हिन्दू धर्म सूत्र

ब्रह्मर्षि विश्वात्मा बावरा

हिन्दू धर्म सूत्र

ब्रह्मर्षि विश्वात्मा बावरा

दिव्यालोक प्रकाशन

ब्रह्मर्षिआश्रम, विराट नगर, पिंजौर, हरियाणा

प्रकाशक :
दिव्यालोक प्रकाशन
ब्रह्मर्षि आश्रम,
विराट नगर, पिंजौर (हरियाणा)
मो : 98120-20059

© लेखकाधीन

सकंलन एवं सम्पादन - ब्रह्मऋता परिव्राजिका

प्रतियाँ : १९००

संस्करण : नवम्

मूल्य : ६०/-

मुद्रक : सुमित इंटरप्राईसिस,
जालन्धर शहर (मो. 79861-78997)

भूमिका

भारत में, लोगों के एक विशेष समुदाय द्वारा 'हिन्दू' शब्द के प्रति घृणा का वातावरण पैदा किया जा रहा है। मुसलमानों ने 'हिन्दू' शब्द हमारे लिए अपमान के अर्थ में प्रयुक्त किया है, इस भ्रान्त धारणा के प्रचार में कई प्रकार के साहित्य का भी सृजन हो चुका है। अपने इस तथ्य की पुष्टि में वे यह प्रमाण प्रस्तुत करते हैं कि संस्कृत साहित्य में 'हिन्दू' शब्द का कहीं भी वर्णन नहीं मिलता। यह अरबी और पारसी का शब्द है जिसका अभिप्राय डाकू, क्रूर तथा अबुद्ध है। इस प्रकार की विचारधारा ने कुछ व्यक्तियों की बुद्धि को ही नहीं अपितु भारत के एक विशाल जन समूह को भ्रमित कर रखा है।

पू० आचार्यश्री की तत्त्व बोध प्रकाशिनी, अन्वेषणात्मक प्रतिभा से प्रबुद्ध वर्ग भली-भांति परिचित है इसलिए हिन्दू धर्म के बहुत से अनुयायियों ने उनसे अनुरोध किया कि वे एक ऐसी पुस्तिका निकालें जो कि हिन्दू, हिन्दू धर्म तथा उसके दर्शन के सभी पहलुओं की तर्कयुक्त और शास्त्रसम्मत व्याख्या हो। जिज्ञासुओं की निरन्तर माँग पर पू० आचार्य श्री ने इस लघु कृति के प्रथम भाग में 'हिन्दू' शब्द के अभिप्राय पर प्रकाश डालते हुए अनेक शास्त्रों तथा ग्रन्थों का उद्धरण देकर यह प्रमाणित किया है कि 'हिन्दू' शब्द हमारे लिये विदेशियों ने अपमान के अर्थ में प्रयुक्त नहीं किया। अपने तार्किक तथा अन्वेषणात्मक दृष्टिकोण और ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर यह बताने की चेष्टा भी की है कि 'हिन्दू' सिन्धु का अपभ्रंश नहीं अपितु प्राकृत भाषा का शब्द है जिसका प्रयोग हमारा जातीय अर्थ में गत पाँच हज़ार वर्ष से हो रहा है।

पुस्तक का द्वितीय भाग 'हिन्दू धर्म सूत्र' १९६४ में प्रथम बार हिन्दी, कन्नड़ तथा गुजराती भाषा में प्रकाशित किया गया था। यह लघु कृति दक्षिण भारत में इतनी लोकप्रिय हुई कि एक वर्ष के भीतर ही इसकी १५,००० प्रतियाँ विद्यार्थियों में बाँटी गईं। उदयपुर विश्वविद्यालय में दर्शन विभाग के अध्यक्ष डॉ. ईश्वर चन्द्र शर्मा द्वारा १९६५ में इसको अंग्रेज़ी में अनुवादित किया गया। बम्बई के 'हिन्दुस्तान टाईम्स' तथा अन्य कई पत्र-पत्रिकाओं ने इस पुस्तक की भूरि-भूरि प्रशंसा की। इसके पश्चात पू० श्री ने कुछ और अध्याय उसमें सम्मिलित किए तथा १९७०, १९७४ और १९७८ में इसके तीन संस्करण और निकाले गये। हिन्दू शब्द और उसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में खोजपूर्ण निबन्ध जो कई वर्ष पूर्व 'ऋतम्भरा' नामक पत्रिका में प्रकाशित होते रहे, जिज्ञासु भक्तों के विशेष अनुरोध पर उनका मैंने अंग्रेज़ी में अनुवाद किया तथा १९८० में 'दि हिन्दू एण्ड इट्स वे आफ़ लाइफ़' नामक पुस्तिका प्रकाशित की गई। इस विस्तृत प्रतिलिपि को हिन्दी में भी प्रकाशित करने की माँग के कारण इसका नौवां (नवम) संस्करण आपकी सेवा में समर्पित कर रही हूँ।

मुझे विश्वास है कि यह निबन्ध 'हिन्दू' शब्द के प्रति जो भ्रान्त धारणायें प्रचलित हैं, उनका निवारण करने में सक्षम होगा। पाठकगण यदि अपने संकुचित दृष्टिकोण को तिलाञ्जलि देकर इस शब्द के वास्तविक भाव को समझना चाहेंगे तो उन्हें उचित मार्गदर्शन मिलेगा। इन्हीं सद्भावनाओं के साथ-

ब्रह्मऋता परिव्राजिका
ब्रह्मर्षि आश्रम,
अबोहर (पंजाब)

अनुक्रम

१. महात्मा गांधी तथा हिन्दू धर्म ७

२. स्वामी दयानन्द द्वारा हिन्दू शब्द का विवेचन १५

३. विदेशियों द्वारा हिन्दू शब्द का सम्मान पूर्वक प्रयोग २२

४. 'हिन्दू' सिन्धु का अपभ्रंश नहीं : एक विश्लेषणात्मक विवेचन ३४

५. संस्कृत साहित्य में हिन्दू शब्द की व्याख्या ४१

६. धर्म ५०

७. शास्त्र ५२

८. सिद्धान्त ५३

९. पुनर्जन्म ५६

१०. अवतार ५९

११. धर्माचरण ६१

१२. यज्ञ ६३

१३. श्राद्ध ६४

१४. मूर्ति पूजा ६५

१५. वर्ण-व्यवस्था ६७

१६. हिन्दू-धर्म में नारी ७२

१७. धर्म-संदेश ७४

१८. विचार ७८

१. महात्मा गांधी तथा हिन्दू धर्म

हिन्दू विचारधारा इस सत्य को स्वीकार करती है कि जगतगत् सम्पूर्ण प्राणी एक ही अनन्त सत्ता की अभिव्यक्ति हैं। वैदिक साहित्य ही हिन्दू धर्म का आधार है, तदनुसार सम्पूर्ण सृष्ट तत्वों को दो भागों में विभक्त किया गया है जिसे सम्भूति तथा विभूति कहते हैं। सम्भूति शब्द का अर्थ होता है यावच्चराचर सृष्टि और उसमें सामान्य से जो कुछ भी जहाँ भी कहीं वैशिष्ट्य है, उसे ही विभूति कहते हैं। गीता के दसवें अध्याय में अर्जुन के यह पूछने पर-

केषु केषु च भावेषु चिन्त्योसि भगवन्मया।

(गीता १०/१७)

हे भगवान्! 'किन-किन भावों से आप मेरे द्वारा चिन्त्य है,' इसके उत्तर में प्रभु ने अपनी विभूतियों का वर्णन किया है और बताया है-

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंशसंभवम्।।

(गीता १०/४१)

'जो-जो भी विभूतियुक्त, श्रीमद् अर्थात् कान्तियुक्त और शक्तियुक्त सत्त्व है, उस-उसको तू मेरे तेज के अंश से ही उत्पन्न हुआ जान'। इस श्लोक में प्रभु ने अपने तेज को तीन रूपों में प्रकट हुआ बताया है-ऐश्वर्य, कान्ति और शक्ति।

प्रथम अभिव्यक्ति ऐश्वर्य है। ऐश्वर्य के विषय में षड्विध ऐश्वर्य की व्याख्या कई ग्रन्थों में की गई है। विष्णु पुराण में भगवान् शब्द की व्याख्या करते हुए कहा गया है-

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञान वैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा।।

(विष्णु पुराण ६/५/७४)

समग्र ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य इन छः को भग कहते हैं और भग ही ऐश्वर्य है। इन षड् ऐश्वर्यों से जो सम्पन्न है वही भगवान् शब्द से अभिहित होता है। इसी परिभाषा के आधार पर हमारे धर्मग्रन्थों में विविध प्रकार की ईश्वरीय शक्तियों से सम्पन्न महापुरुषों को भगवान् शब्द से सम्बोधित किया गया है।

भगवान् की दूसरी अभिव्यक्ति श्रीमद् अर्थात् कान्तिरूप में है। कान्ति, प्रकाश या तेजयुक्त व्यक्ति या वस्तु भगवान् की ही विभूति है। इसी आधार पर सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि पदार्थों को और कान्ति या तेजयुक्त व्यक्तियों को भी देवता के रूप में अभिहित किया जाता है।

प्रभु के तेजांश की तीसरी अभिव्यक्ति शक्ति है। किसी भी प्रकार की शक्ति जहां भी कहीं विशेष रूप में प्रकट हो, उसे प्रभु की विभूति ही समझनी चाहिए। गीता के सातवें, नवें तथा दसवें अध्याय में पाठकगण स्वयं भी इसे देख सकते हैं। भगवान की विभूतियाँ इन्हीं तीन रूपों में वहाँ उपलब्ध होंगी। किसी भी देश, काल और परिस्थिति में आवश्यकतानुसार भगवान की विभूति का आविर्भाव हो सकता है। प्रभु की विभूतियों के दर्शन, चिन्तन तथा आराधन से मनुष्य कल्याण का पात्र बनता है।

जिन महापुरुषों में प्रभु के ऐश्वर्य, तेज और शक्ति का एक ही साथ आविर्भाव हुआ है उन्हें हिन्दू धर्म प्रभु का पूर्णावतार स्वीकार कर आराधन करता है। जैसा कि भगवान् श्रीराम के विषय में महारामायण का कथन है-

पोषणंभरणाधारं शरण्यं सर्वव्यापकम्।
कारुण्यं षडभिः पूर्णोंहि रामस्तु भगवान स्वयम्।।

पोषण, भरण, धारण, शरण्य (शरणागत वत्सल), व्यापक तथा कारुणिक होने से श्रीराम स्वयं भगवान् हैं। हिन्दू धर्म-शास्त्र तथा उसके अब तक के उपलब्ध इतिहास भगवान् श्रीराम तथा श्रीकृष्ण के रूप में ही ऐश्वर्य, स्त्री तथा शक्ति का समन्वित अवतरण होने से उन्हें पूर्णावतार के रूप में स्वीकार करते हैं।

जिन महापुरुषों में इन त्रिविध गुण विशेष की अभिव्यक्ति नहीं हुई है किन्तु इनमें से एक-दो गुणों का ही प्राकट्य हुआ है, उन्हें भी भगवान् की संज्ञा दी जाती है। इसी सिद्धान्तानुसार हमारे यहाँ अंशावतार स्वीकार करने की परिपाटी है। उदाहरण रूप में भगवान् कपिल, व्यास, वामन, परशुराम, ऋषभदेव और बुद्ध आदि अनेक रूपों में भगवान् के अंशावतार स्वीकार किए गये हैं। इसी प्रकार जरथ्रुस, मौसेस, जिसस, लाओत्सेतुंग, कन्फ्यूशियस, मुहम्मद आदि विश्व के सभी धर्माचार्यों तथा अन्यान्य जितने लोकहितकारी कार्य करने वाले महापुरुष हो चुके हैं या भविष्य में होंगे वे सभी गीता के शब्दों में भगवान् की विभूति में ही परिगणित हो जाते हैं। हिन्दू विचारधारा इसी दिव्य भाव के आधार पर विश्व के सभी महापुरुषों, धर्माचार्यों एवं उपास्य देवों का समान रूपों में आदर करती है।

यह बात तो सभी मानते हैं कि विश्व में प्रचलित सभी धर्मों के संस्थापकों में ईश्वर की विशिष्ट शक्ति का आविर्भाव हुआ था और सभी ने मानव-जाति के हित में कार्य किया है। सामान्य रूप से उनके उपदेशों एवं मानव हित की भावनाओं में सन्देह नहीं किया जा सकता। हाँ, इतनी बात अवश्य है कि जिस देश, काल और परिस्थिति में जिस प्रकार के लोगों को दृष्टि में रखकर उन महापुरुषों ने सन्देश दिया, वह सभी देशों या समाज के मनुष्यों के लिए उपयुक्त हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता, फिर भी उनकी कल्याणप्रद

भावना तो आदरणीय है ही। हिन्दू धर्म ऊपर कहे हुए दृष्टिकोण से ही सभी धर्मों, पन्थों और मज़हबों के प्रति सहिष्णु होने की सीख देता है। कुछ लोग हिन्दू विचारधारा में निहित इस उदारता को उसकी निर्बलता मान बैठे हैं, यह उनकी बुद्धि-वैचित्य का ही परिणाम कहना चाहिए। कट्टरता के पुजारी भला उदारता की महत्ता को समझ हो कैसे सकते हैं? कट्टरपंथियों की नकल में कुछ हिन्दू समाज के लोग भी इस उदारता से विमुख होते जा रहे हैं किन्तु मैं समझता हूँ कि जिस समय हिन्दुओं में यह रोग आएगा, उस दिन दुनिया में एक ऐसे महान् आदर्श का लोप हो जाएगा जिसको युगों से ही मानव जाति के समक्ष हिन्दू उपस्थित करता आ रहा है।

सदियों के पश्चात हिन्दुत्व का सही स्वरूप इस युग के कर्मयोगी संत महात्मा गाँधी द्वारा पुनः विश्व के सामने उपस्थित किया गया। यह हमारे लिए नवीन न होते हुए भी नवीन-सा ही लगता है क्योंकि विविध जातियों द्वारा शताब्दियों से होने वाले आक्रमणों के कुहासे में यह भावना लुप्त सी हो गई थी। दार्शनिक ग्रन्थों तथा ऐतिहासिक कथाओं में इसका बीज अवश्य ही पड़ा था जो कि किसी-किसी को कभी-कभी सुनने को मिला करता था, किन्तु क्रियात्मक रूप में केवल वाणी तथा कल्पना तक ही सीमित रह गया था। युगपुरुष महात्मा गांधी ने इस तथ्य को पहचाना और मनुष्य-मात्र का ध्यान इसकी महत्ता की ओर आकर्षित किया। उन्होंने अपने जीवन में एक नैष्ठिक हिन्दू होते हुए भी सभी धर्मग्रन्थों तथा उनके महान् पुरुषों के प्रति आदर का भाव रखा। सर्वधर्म समन्वय को दैनिक स्मरण में रखकर मानव जाति को इस दिशा में अग्रसर होने के लिए प्रेरित किया क्योंकि विश्व मानव की भावना और उसकी प्रतिष्ठा बिना इस विचारधारा के हो ही नहीं सकती थी। महात्मा गांधी गीता के अनन्य चिन्तक थे और उसके प्रकाश में उन्होंने अपने उपास्य देव श्रीराम के विश्वरूप का दर्शन किया था। **'वसुधैवकुटुम्बकम्'** की साकार साधना उनके मानस स्थल में उतर चुकी थी। यही तो हिन्दुत्व का यथार्थतः स्वरूप है।

यह बात तो प्रायः सभी लोग जानते हैं कि हिन्दू जीवन साधना का अन्तिम लक्ष्य अद्वैत की प्रतिष्ठा है और वह प्रतिष्ठा तब तक सम्भव नहीं हो सकती जब तक कि सम्पूर्ण विश्व को स्वयं में व स्वयं को सम्पूर्ण विश्व के साथ एक न कर लें। इस एकत्व की साधना में बोध, प्रेम और सेवा ही उचित अवलम्बन हो सकता है जोकि क्रमशः योग, त्याग तथा आत्मीयता से ही सम्भव है। योग ही बोध का हेतु है। गीता में प्रभु ने इस विषय का वृहद् रूप से विवेचन किया है। योग की साधना में पंच-विध यमों की प्रतिष्ठा को ही इसकी नींव कहा जाए तो अत्युक्ति न होगी। पंच-विध यमों का आधार अहिंसा है। इसकी दृढ़ भावना या धारणा से अन्य सभी अंग स्वयमेव सिद्ध हो जाते हैं। इस विषय में विशेष जानकारी के लिए पाठक मेरी लिखी 'जीवन विज्ञान' नाम की पुस्तिका पढ़ सकते हैं।

अहिंसा ही अद्वैतवाद की सिद्धि का श्रेष्ठतम साधन है किन्तु किसी भाव की कट्टरता तथा उसके विपरीत भावनाओं के उन्मूलन का व्रत कभी अहिंसा का साधन नहीं बन सकता। इसलिए अहिंसानिष्ठ हिन्दू सर्वभाव समादर का पाठ पढ़ाता है और इसी को सहिष्णुता कहते हैं। सारांशतः सहिष्णुता से अहिंसा तथा अहिंसा से ही अद्वैत की सिद्धि सम्भव है। यही हिन्दुत्व के वास्तविक साध्य-साधन का स्वरूप है जिसका महात्मा गाँधी के जीवन में साकार दर्शन होता है।

वर्तमान के सभी राजनेताओं द्वारा गांधीवाद की दुहाई दी जा रही है किन्तु खेद की बात है कि उनके जीवन की साधना के आधाररूप इस हिन्दू विचारधारा को जनमानस तक पहुँचाने का किंचित भी प्रयत्न नहीं किया जा रहा। जनता को यह तो बताया जाता है कि बापू के मार्ग को अपनाने से ही विश्व में शान्ति की प्रतिष्ठा हो सकेगी किन्तु किस भावना से किस संस्कार से यह मार्ग अपनाया जा सकता है, इस सम्बन्ध में किंचित भी विचार नहीं किया जाता। इस बात को मैं पुनः स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि गाँधी जी के जीवन में जो कुछ भी आदर्श रूप में था, वह वही है जिसको कि प्रत्येक

निष्ठावान् हिन्दू विचारधारा के अनुयायी में पाने की आशा की जाती है। गांधी जी का जीवन हिन्दुत्व का मूर्त रूप था। हिन्दू धर्म के प्रति उनकी अगाध निष्ठा उन्हीं के शब्दों में पढ़ें-

"हिन्दू धर्म ने हमें भय से बचा लिया है। यदि हिन्दू धर्म मेरी मदद के लिए न होता तो मेरे लिए आत्महत्या के सिवा और कोई चारा न होता। मैं हिन्दू इसलिए हूँ क्योंकि हिन्दू धर्म वह चीज़ है जो संसार को रहने योग्य बनाती है।" वह इसी विषय में पुनः आगे कहते हैं-

"आज हम जिसे देखते हैं वह शुद्ध हिन्दू धर्म नहीं बल्कि बहुधा उसका उपहास है अन्यथा मुझे इसकी ओर से वकालत करने की ज़रूरत न पड़ती।"

इससे हम उनकी हिन्दुत्व में अटूट निष्ठा तथा उसके शुद्ध रूप के आचरण की भावना को समझ सकते हैं। दुःख इस बात का है कि आज गांधीवाद के अनुयायी हमारे मूर्धन्य नेताओं ने उनके जीवन के आधाररूप हिन्दुत्व की विचारधारा को उपेक्षित ही नहीं कर दिया है बल्कि कुछ एक ने तो यह भी कहने का साहस किया है कि गांधी किसी एक धर्म के अनुयायी नहीं थे। इसमें कारण यह बताया जाता है कि उनकी प्रार्थना सभाओं में सभी धर्मग्रन्थ पढ़े जाते थे। भला! इन बुद्धि के धनी-मानी नेताओं को कौन समझावे कि सभी धर्मग्रन्थों के पढ़ने मात्र से ही अपने धर्म की निष्ठा समाप्त नहीं हो जाती। जहाँ बापू के इस आदर्श से हमें शिक्षा लेनी चाहिए थी कि स्वधर्म निष्ठा के साथ ही सर्वधर्म समादर का भाव सम्भव है, वहाँ इन महानुभावों ने यह अर्थ निकाल लिया कि उनका कोई अपना धर्म ही नहीं था। ऐसे लोगों के विषय में ज़रा बापू के शब्द पढ़िये-

"आज हमारी आँखें मैली हो गई हैं, विचार गन्दे हो रहे हैं और शरीर सबसे अधिक गन्दा हो रहा है क्योंकि हम हिन्दू धर्म को इन्कार कर रहे है।" गांधीवाद के अनुयाइयों को उनके ऊपर उद्धृत शब्दों पर ध्यान देना चाहिए। इस सम्बन्ध में इससे अधिक और क्या कहा जा सकता है।

इस समय गांधी जी के नाम से एक नया वाद गढ़ा गया है और उसका ज़ोरों से प्रचार भी चल रहा है किन्तु वस्तुतः गांधी ने कोई नया वाद उपस्थित नहीं किया था। उन्होंने तो सही रूप से हिन्दुत्व की साधना की थी और उसी के माध्यम से परम शान्ति को प्राप्त करना वह अपना लक्ष्य समझते थे। इस सम्बन्ध में कहे गये उन्हीं के शब्द पढ़ें-

''हिन्दू धर्म के द्वारा ही प्रकाश, आनन्द और शान्ति प्राप्त करने के सिवाय इस दुनिया में मेरी कोई इच्छा नहीं। इस कारण मैं इसे विशुद्ध हुआ देखना चाहता हूँ। हिन्दू धर्म मुझे सन्तोष देता है क्योंकि उसे जिस तरह मैंने समझा है और जिस ढंग से मैं उसका आचरण करता हूँ, उस तरह वह मुझे दूसरे तमाम धर्मों के प्रति पूरी तरह सद्भाव रखने की ओर दूसरे धर्मों के अनुयाइयों को भी अपने सगे भाई-बहन मानने की प्रेरणा देता है।'' आगे वह कहते हैं-

''गीता का, वेदों का, उपनिषदों का, भागवत और महाभारत का और मेरे विचारों का हिन्दू धर्म मुझे सिखाता है कि जीव-मात्र एक है और ईश्वर के सामने न कोई ऊँचा और न कोई नीचा। वाद-विवाद करने से मुझे अरुचि है किन्तु असत्य और अशुद्ध से मुझे उससे और भी अधिक अरुचि है।''

मैं समझता हूँ कि बापू के इन शब्दों को पढ़ लेने पर पुनः इस प्रकार की शंका के लिए कोई स्थान ही नहीं रह जाता कि वह किसी विशेष धर्म के अनुयायी थे या नहीं थे। जो लोग धर्म-निरपेक्षता का अर्थ धर्महीनता से लगाते हैं उनकी बुद्धि के विषय में कुछ कहना ही व्यर्थ है, किन्तु यह बात दावे के साथ सप्रमाण कही जा सकती है कि गांधी जी का जीवन एक आदर्श हिन्दू का जीवन था। उनकी सामाजिक मान्यतायें और भावनाएँ हिन्दू विचारधारा से ओत-प्राते रही हैं। गीता उनकी माता थी, रामनाम उनके जीवन का आधार था; अन्तिम श्वास में भी वह उसे नहीं भूले।

वे कहते थे-''मेरे राम सीता के पति तथा दशरथ के पुत्र होते हुए भी

घट-घट वासी हैं।'' यही उनकी भावना रामचरित मानस के राम का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत करती है। उनके रामराज्य या सर्वोदय की भावना में भी हिन्दू जीवन-पद्धति की आत्मा का दर्शन होता है। गुण कर्मानुसार वर्ण-व्यवस्था गीता की समाज रचना का मूल-मन्त्र है। 'ट्रस्टिशिप' जिसको सन्त विनोबा भावे ने विश्वस्तवृत्ति कहा है वह ईशोपनिषद् में वर्णित जीवन विज्ञान का सन्देश है तथा सत्ता का विकेन्द्रीयकरण प्राचीन भारतीय वैराज्य की व्यवस्था का ही वर्तमान रूप है और यही बहुचर्चित गांधीवाद के मूल सिद्धान्त हैं जिससे कि प्रत्येक हिन्दू परिचित है। अतः गांधीवाद को अलग से खड़ा करना और गांधी जी को धर्मनिरपेक्ष घोषित करना उनकी आत्मा के प्रति घोर अन्याय तथा जनता को गुमराह करने के सिवाय और कुछ भी नहीं है।

मैं विनम्र होकर पुनः निवेदन करता हूँ कि हिन्दू धर्म कोई उपासना की पद्धति मात्र प्रस्तुत नहीं करता, न यह इसका उद्देश्य ही है क्योंकि यह सम्प्रदाय नहीं, धर्म है। धर्म की परिभाषा मत, मज़हब, सम्प्रदाय, पंथ या रिलिजन नहीं है। धर्म एक वैयक्तिक और सामाजिक जीवन की पद्धति है जो कि अभ्युदय के साथ या गांधी जी के शब्दों में सर्वोदय के साथ ही निःश्रेयस की सिद्धि कराता है। यही हिन्दू विचारधारा में धर्म का स्वरूप है जिसको युग पुरुष ने जीवन में साकार किया है। विश्वबन्धुत्व, अहिंसा तथा सर्वधर्म समादर, ये हिन्दू जीवन विधान के आधार हैं जिनका महात्मा गांधी ने व्यवहार में प्रयोग किया है। वे कहते हैं कि हिन्दू धर्म की महत्ता यह है कि वह मानता है कि जीव-मात्र एक है। अतः उनके विचारों से यह स्पष्ट होता है कि महात्मा गांधी हिन्दू धर्म के आस्थावान अनुयायी रहे हैं और उन्होंने उसके मूल सिद्धान्त की महत्ता का वर्णन करते हुए उसके प्रति अपनी अटल निष्ठा व्यक्त की है।

हरि ॐ तत्सत्।

२. स्वामी दयानन्द द्वारा हिन्दू शब्द का विवेचन

दुर्भाग्य से कुछ दशाब्दियों से हमारे यहाँ एक वर्ग ऐसा उत्पन्न हुआ है जो जन-सामान्य में हिन्दू तथा हिन्दुत्व के प्रति अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ फैलाने का असफल प्रयत्न कर रहा है। उस वर्ग का कथन है कि हिन्दू शब्द का कहीं भी हमारे प्राचीन संस्कृत साहित्य में उल्लेख नहीं है। यह तो अरबी या फारसी का शब्द है। इसका अर्थ होता है-रहज़न तथा ज़ाहिल (डाकू, क्रूर, नास्तिक)। मुस्लिम शासन काल में यह शब्द निन्दा, घृणा तथा उपेक्षा की दृष्टि से हम भारतियों के लिए प्रयुक्त होता रहा है और ना-समझ लोगों ने इसे अपने लिए स्वीकार कर लिया। इस प्रकार की विचारधारा केवल एक-दो व्यक्तियों की बुद्धि को ही नहीं बल्कि एक बहुत बड़े समुदाय को भ्रमित किये हुए है। कई वर्ष पूर्व मैंने एक छोटी-सी हिन्दू धर्म नाम की पुस्तिका लिखी थी और उसके द्वारा हिन्दू शब्द के प्रति अपनी मान्यता को व्यक्त किया था किन्तु तभी से कुछ मित्रों की प्रेरणा से एक खोजपूर्ण विस्तृत व्याख्या व्यक्त करने की भावना प्रबल होती रही। अब इस प्रसंग में मैंने यही उचित समझा कि इसके समाधान में इस विषय को विस्तृत रूप से व्यक्त किया जाये जिससे अधिकांश लोग इस तथ्य का परिचय प्राप्त कर सकें। यह मैं किसी की आलोचना, किसी मत के खण्डन की भावना से नहीं लिख रहा, इसमें विविध ऐतिहासिक तथ्यों द्वारा

जो कुछ भी अभी तक जानने को मिला है, उसी का स्पष्टीकरण मात्र किया जा रहा है जिससे अधिकांश लोग एक महान् भ्रम से मुक्त हो सकें।

सहस्त्राब्दियों से भारतीय जन-जाति हिन्दू शब्द से अभिहित होती आ रही है। इस विषय में कभी भी किसी भी व्यक्ति को न तो आशंका हुई और न आवश्यकता ही प्रतीत हुई कि इस बात की खोज करें कि यह हिन्दू शब्द उसके जातीय अर्थ में कब से प्रयुक्त होता आ रहा है। हमारे जातीय अर्थ में प्रयुक्त होने वाले इस पवित्र हिन्दू शब्द पर आक्षेप सर्वप्रथम आर्यसमाज के प्रस्थापक स्वामी दयानन्द ने किया। उनके विचारों से हिन्दू नाम विदेशियों ने हमारे लिये निन्दित अर्थों में प्रयोग किया है। यह बात स्वाभाविक है कि सदियों से विदेशीय संस्कृति के संसर्ग में रहने से भारतीय जनजीवन सर्वथा अछूता न रह सका था। यही कारण है कि बहुत-सी ऐसी मान्यताएँ यहाँ पर अपना स्थान जमा बैठी हैं जिनका स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से भी समृद्ध प्राचीन संस्कृत साहित्य में जिसे कि यहाँ के निवासी अपनी संस्कृत, सभ्यता, धर्म या जीवन का आधार मानते हैं कहीं भी उल्लेख नहीं है।

यह बात निर्विवाद सत्य है कि इस युग में स्वामी दयानन्द ने अपने क्रान्तिकारी विचारों द्वारा जो हिन्दू समाज को जागृत कर उसकी सेवा की है, वह इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों पर लिखी जायेगी। हिन्दू जनता सदा ही अपने उस महापुरुष की कृतज्ञ रहेगी किन्तु सामाजिक या राष्ट्रीय स्तर पर महापुरुषों के जिस किसी भी कार्य से कुछ महत्वपूर्ण अंगों पर आघात पहुँचा है उसके लिए विचारकों, तत्त्वचिंतकों का कर्त्तव्य बनता है कि वे जन-सामान्य को उससे सावधान करें। यह बात तो सभी जानते हैं कि क्रान्तिकारी की दृष्टि भविष्य के परिणामों की अपेक्षा वर्तमान की स्थितियों पर अधिक केन्द्रित होती है। अतः उसकी क्रान्ति की बातें कोई मानव समाज के हित में मौलिक सिद्धान्त नहीं बन जातीं।

अपने वर्तमान में प्रचलित दूषणयुक्त प्रथाओं के विरुद्ध जब कोई सुधारक आवाज़ उठाता है तो वह यह नहीं सोचता कि उस प्रथा के मूल में जो उपयोगी तत्त्व हैं, उनकी सम्भाल किस तरह करनी चाहिए। समाज में किसी भी प्रकार की अच्छी-बुरी प्रथा के जीवित रहने का कारण यह होता है कि उस समाज में कुछ लोग ऐसे ही हैं जिनकी बौद्धिक शक्ति उस धरातल पर से ही सोचती-समझती है। सभी मनुष्यों का बौद्धिक स्तर किसी भी देश या काल में समान न तो हुआ है, न होता है और न होगा ही। त्रिगुणात्मिका सृष्टि में बुद्धि-वैविध्य का होना स्वाभाविक है। इस विषय में मानवीय प्रयत्न या समानता की कल्पना भी व्यर्थ है। अतः समाज में जो कुछ भी प्रचलित प्रथायें होती हैं, मूल में तो वे सामाजिक हित में या किसी वर्ग विशेष की भावनाओं की पूर्ति हेतु ही स्थापित की जाती हैं, कालान्तर में भले ही कोई हानिप्रद तत्त्व उसमें अपनी जड़ जमा लेवें। एक बात यह भी है कि यदि कोई प्रथा समाज के लिए हानिप्रद या विकास में बाधक है तो भी उसका विरोध करने पर उसके अनुयाइयों में उसके प्रति लगाव होने से प्रतिशोध की भावना प्रबल रूप से उभर आती हैं।

अब तक की अनुभूतियों में सुधारवादी विचारकों को यह सबक सीखना चाहिए कि व्यक्ति या समाज के विकास में जो भी अवरोधक तत्त्व हों, जिनसे समाज चिपका हुआ हो, उससे मुक्त करने के लिए उस तत्त्व से घृणा या उसमें आबद्ध लोगों की निन्दा न कर उनके बौद्धिक स्तर को ऊँचा उठाने का ही प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि घृणा या आलोचना से कुछ लोग भले ही अपने को उससे अलग कर लें किन्तु अधिकांश जनता में उसकी एक विचित्र प्रकार की प्रतिक्रिया होती है, जिसके परिणाम में उस अवरोधक तत्त्व से उनकी दूरी नहीं बल्कि चिपकाव ही अधिक हो जाता है। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है हिन्दू जाति में मूर्ति पूजा के विरोध से परिणाम में उसका अधिकाधिक विस्तार। मैं अपने पाठकों

को इस विषय में कुछ और भी तथ्य आगे बताऊँगा, अभी जो हमारा मुख्य विषय है, उस पर थोड़ा विचार कर लें।

हमारे मिशन के वयोवृद्ध प्रबुद्ध चिंतक एवं अध्यक्ष, उदयपुर निवासी श्री लाल सिंह शक्तावत विनोद में एक बात कहा करते हैं, वह मुझे इस बात को स्पष्ट करने में बिल्कुल युक्तियुक्त तथा उचित जचती है। उनका कहना है कि जैसे किसान गेहूँ के खेत की निरावनी करने लगता है तो असावधानी में घास के साथ कुछ गेहूँ भी उखाड़ फेंकता है, यद्यपि उसका यह उद्देश्य नहीं होता। यही गति सामाजिक क्रान्तिकारियों की भी होती है और स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा भी कुछ ऐसी ही बातें हुई, जिससे हिन्दू जाति की मूलभूत आस्थाओं पर आघात पहुँचा है। इस विषय में सर्वप्रथम तो यही हिन्दू शब्द को ही लिया जा सकता है, जिसके प्रति हज़ारों वर्षों की बनी हुई आस्था डगमगा उठी, परिणाम में बाद के विद्वानों को यह लिखने तथा बताने के लिए इतना ज़ोर लगाना पड़ा है कि कई पुस्तकें तैयार हो गईं। मूल बात यह थी कि वैदिक साहित्य में या प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में स्वामी जी को हिन्दू शब्द कहीं नहीं मिला और उन ग्रन्थों में कई स्थानों पर आर्य शब्द का प्रयोग होने से, साथ ही देश के एक भाग विशेष का नाम आर्यवर्त होने से, स्वामी जी ने प्राचीनता की भक्ति को प्रमुखता प्रदान करने के लिए अपनी संस्था को आर्यसमाज के नाम से ही स्थापित किया तथा अपने अनुयाइयों को भी और स्वयं को आर्य कहने और लिखने की प्रेरणा दी।

प्रसंग के दौरान यह भी उल्लेख कर देना उचित समझता हूँ कि स्वामी जी को यह भी कहीं से पता चला कि हिन्दू शब्द का अर्थ फारसी या उर्दू में गुलाम, रहजन वा ज़ाहिल होता है। इसलिए उन्होंने इस शब्द के प्रति घृणा प्रकट की और कहा कि यह शब्द मुसलमानों ने अपमान के अर्थ में हमारे लिए प्रयोग किया था, किन्तु पराधीन होने के नाते हमारे पूर्वजों ने इसे जाति अर्थ

में स्वीकार कर लिया था। गुलामी का सूचक होने से यह हमारे लिए अपमान का हेतु है। अतः अब हमें इसे त्यागकर स्वयं को आर्य शब्द से विभूषित करना चाहिए। जहाँ तक इस विषय में स्वामी जी की भावना का प्रश्न है वह अति उत्तम है। उनके हृदय में यह तड़फ थी कि हर प्रकार से, किसी भी तरह हम अपने देशवासियों को महान् बना दें।

किन्तु बात ठीक उसी असावधान किसान की भाँति हो गई जो कि घास के साथ जल्दी में गेहूँ को भी उखाड़ फेंकता है। पहली बात तो यह है कि हर एक शब्द की जड़ वेद में ढूँढने की प्रवृत्ति ही गलत है। इतिहास तथा दर्शन की दृष्टि से यह बात अब स्पष्ट हो गई है कि वैदिक साहित्य का आंविर्भाव जिस काल में हुआ था, वह सृष्टि में मानवता के उदय का स्वर्णिम युग था। वेद केवल हम भारतियों के लिए नहीं बल्कि मानव मात्र के लिए भी गौरव का ग्रन्थ है क्योंकि वह मानव जाति के लिए जगत् तथा जीवन के सम्बन्ध में तत्त्वप्रद शिक्षाओं का आदि उद्गम स्थान तथा मानवता की परम उपलब्धि का संचित रत्न है। इतना होते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि प्रत्येक परिस्थिति में उसकी परम प्रामाणिकता को स्वीकार करके ही मानव उन्नति की दिशा में आगे बढ़ सकेगा अन्यथा नहीं। हाँ, मैं यह अवश्य मानता हूँ कि मानव समाज को सदैव अपने अतीत की उपलब्धियों से लाभ उठाना चाहिए। पूर्ण प्रज्ञ ऋषियों के सन्देश को सद्भावयुक्त मनन कर अपना लेना चाहिए क्योंकि वह मानव जाति के ही उज्ज्वल भविष्य के निर्माण में सहायक होता है।

वैदिक ज्ञान की महत्ता स्वीकार करना उचित ही है किन्तु जो कुछ उसमें है उतना ही सत्य है, यह मान्यता मानव जाति के विकास नहीं अवरोध का ही कारण बनेगी और होगी भी। हर बात में किसी भी ग्रन्थ की दुहाई देकर या किसी मानव विशेष के वाक्यों को दुहराकर मानव जाति का हित नहीं किया

जा सकता क्योंकि सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर अन्त तक के लिए मानव जीवन की व्यवस्था का विधान किसी ग्रन्थ ज्ञान में निहित नहीं है। हाँ, इतना कहना मेरे विचार से अनुचित न होगा कि दुनिया में प्रचलित अन्य धर्मग्रन्थों की अपेक्षा वैदिक साहित्य में मानव जाति को शाश्वत सत्य की दिशा में अग्रसर होने की प्रेरणा अधिक सुस्पष्ट तथा समीचीन है।

दुनिया की मानव जाति के पास जो कुछ भी साहित्य है वेद उनमें अपना सर्वश्रेष्ठ स्थान रखता है, यह मेरी ही नहीं अधिकांश पाश्चात्य पण्डितों की भी राय है किन्तु मानव जाति के लिए आगे खोजने, जानने के लिए कुछ बाकी है ही नहीं, यह कहना उसकी महत्ता का अपमान करना है। पाठक याद रखें कि इन शब्दों को लिखने में मैं वेद की महत्ता को अस्वीकार करना चाहता हूँ, ऐसी बात नहीं है। मेरी राय है कि महान् से महान् उपलब्धियों से भी मानव को चिपका नहीं रहना चाहिए। उपलब्धियों को उचित स्थान देकर ही वह अपने पूर्ण विकास तक पहुँच सकता है।

आज दुनिया के सभी धर्मों के आधार रूप में कोई न कोई ग्रन्थ की मान्यता मिलेगी चाहे वह प्राचीन सनातन धर्म, यहूदी धर्म तथा पारसी धर्म हो और चाहे वह वर्तमान का साम्यवादी धर्म। किन्तु गहराई से विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि कोई भी धर्मानुयायी अपने धर्मग्रन्थ के अनुसार जीवन नहीं बिताता। कारण स्पष्ट है कि मानव की मौजूदा परिस्थितियाँ उसे तदनुसार आचरण करने के लिए ही विवश कर देती हैं। इतनी मान्यता ही पर्याप्त समझी जाती है कि धर्मग्रन्थों का पठन-पाठन ही कल्याण का हेतु है, आचरण चाहे सर्वथा उसके विपरीत ही क्यों न हो। आश्चर्य तो यह है कि इस नग्न सत्य को समझता हुआ भी प्रत्येक धर्मानुयायी अपने धर्मग्रन्थ के विपरीत विचार रखने वालों को सहन नहीं करता चाहे उसके स्वयं का व्यवहार भले ही उसके विपरीत हो।

अब पाठक अपनी मूल बात पर आ जायें। जिस विषय में यहाँ इस प्रकार के विश्लेषण की आवश्यकता पड़ी है, वह यह है कि स्वामी दयानन्द ने वेद के प्रति इतनी कट्टरता दिखाई कि उसके बाद की समस्त साहित्यिक उपलब्धियों को उपेक्षित कर दिया। हिन्दू शब्द वेद में नहीं है और बाद के भी संस्कृत साहित्य में नहीं है इसलिए त्याज्य है, फारसी का शब्द है इसलिए वह सर्वथा घृणित है, क्योंकि उनकी दृष्टि में फारसी भाषा में हिन्दू शब्द मुसलमानों ने घृणा या निन्दा की भावना से हमारे लिए प्रयोग किया है। मुसलमानों के आगमन से पूर्व यह यहाँ की जाति अर्थ में नहीं था, इस प्रकार के भ्रम को स्वामी दयानन्द जी ने ही विशेष रूप से जन-सामान्य में उत्पन्न किया था, जिसका प्रभाव आज भी कुछ सिरफिरे लोगों में देखने को मिलता है। जबकि हिन्दू महासभा के संस्थापकों, भारत के महान् विद्वानों तथा नेताओं ने इस विषय में अपने खोजपूर्ण ऐतिहासिक तथ्यों द्वारा कई बार इस भ्रम के निवारण का प्रयत्न किया है। फिर भी मैं अपने पाठकों को इस विषय में नवीन अन्वेषणों के आधार पर सुस्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि हमारी जाति के साथ हिन्दू शब्द का प्रयोग इस्लामी शासन काल से मानना इतिहास के प्रति बिल्कुल अज्ञानता का द्योतक है।

हरि ॐ तत्सत्।

३. विदेशियों द्वारा हिन्दू शब्द का सम्मानपूर्वक प्रयोग

हिन्दू शब्द फारसी भाषा में भी है, इसमें सन्देह नहीं किन्तु इतिहासवेत्ता यह भी जानते हैं कि फारसी या पारसी जाति अतीत में हिन्दुओं की ही एक शाखा थी। ईरान से भारत का कितना निकट का सम्बन्ध था, इसका प्रमाण हमें पारसियों के प्राचीन ग्रन्थ अवस्ता से प्राप्त होता है। विद्वानों का कहना है कि अवस्ता के छन्दों को थोड़ा-सा परिवर्तन करके यदि ऋग्वेद की ऋचाओं के साथ मिला दिया जाये तो उसे अलग करना असंभव हो जायेगा। यह बात अब अनेक प्रमाणों से सिद्ध हो चुकी है कि भारतीय हिन्दू तथा ईरानी पारसी, ये दोनों एक ही मूल के हैं, कभी किसी कारण से एक-दूसरे से अलग हो गये थे। आज भी इन दोनों के साहित्य तथा संस्कारों में इतनी निकटता है, जिसका उदाहरण अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता।

अभिप्राय यह है कि फारसी भाषा अरब वालों से भी पहले भारतियों के निकट थी। इसको यूँ भी कह सकते हैं कि यह कभी अतीत में भारतीय भाषाओं की ही एक शाखा या इसके प्रान्त की भाषा थी। यदि हिन्दू शब्द फारसी का हो तो भी यह मुसलमानों की उत्पत्ति से कई शताब्दियों पूर्व से ही दुनिया में हमारी जाति के अर्थ में सम्मान के साथ प्रयुक्त होता आ रहा है। अवस्ता में हिन्दू शब्द का प्रयोग हमारी जाति के अर्थ में है। पारसियों के गाथा ग्रन्थ

शतीर में भी बड़े ही आदर के साथ हिन्दू शब्द का प्रयोग है। हिन्दी पर फारसी का प्रभाव अपनी शोध पुस्तक में अम्बिका प्रसाद वाजपेयी ने शतीर नामक ग्रन्थ से एक विशिष्ट घटना का उल्लेख किया है जिसका कुछ अंश यहाँ पाठकों की जानकारी के लिए प्रस्तुत करना उचित होगा। शतीर की १६३वीं आयत में लिखा है-**'अकुन विरहमने व्यास नाम अज हिन्द आमद। दाना की अकल चुनाने स्त'** अर्थात् हिन्द से व्यास नाम का एक ब्राह्मण आया था जो बड़ा गुणवान तथा बुद्धिमान था। इसी सम्बन्ध में आगे लिखा है-**'गस्ताशय जरतस्तरख्वाद'** जब व्यास नामक हिन्दू वल्ख नामक राजधानी में पहुँचा तो राजा गस्ताशय ने प्रधान पण्डित जरदुस्थ को बुलाया और वहां पर अपना परिचय देते हुए व्यास देवजी ने कहा है-

'मनमरदे अमहिन्दी जिजाद'-मैं हिन्द देश में उत्पन्न हुआ हिन्दू हूँ। **'बहिन्दवाजगस्त'**-व्यास देव वहाँ कुछ दिन रहकर अपने देश को लौट आया। पुस्तक में हमारे देश का नाम हिन्द तथा व्यास जी को हिन्दू कहा गया है। यह बात याद रखनी चाहिए कि जरदुस्थ का वर्णन अपने पुराणों में भी मिलता है। पारसी के प्राचीन ग्रन्थ शतीर से यह बात तो पाठक समझ ही गये होंगे कि उस भाषा में पहले हिन्दू शब्द किस आदर भाव के साथ प्रयुक्त हुआ है। यदि मुसलमानी काल में जब फारसी भाषा का सम्बन्ध इस्लाम से हुआ उसके बाद यदि हिन्दू शब्द के अर्थ में कोई निकृष्ट भाव जोड़ देवे तो इसमें किसी को क्या कहा जाये? एक बात यह भी बता देना उचित होगा कि मुसलमानी आक्रमण के प्रारम्भ में ही यहाँ के लोगों को हिन्दू ही कहा जाता था। महमूद गजनबी की सेना के साथ ही अलबरूनी आया था, उसने भी हिन्दुओं की बड़ी प्रशंसा की है। बसेर का निवासी 'जाहिल' ने भी हिन्दुस्तान की महिमा का गान किया है, जिसका काल आठवीं ई० है। आठवीं-नवीं ई० में याकूबी हुआ है, जो लिखता है, ''हिन्दुस्तान के लोग बुद्धिमान और विचारशील हैं। गणित, फलित ज्योतिष में उनकी बातें सब ठीक निकलती

हैं। यह सिद्धान्त उन्हीं की विचारशीलता का परिणाम है जिससे यूनानियों और ईसाइयों ने लाभ उठाया है।''

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि मुसलमान लेखकों ने भी हिन्दुस्तान या हिन्दू शब्द का प्रयोग आदर के साथ ही किया है, घृणा या निन्दा के अभिप्राय से नहीं। फारसी भाषा में तो निन्दित अर्थ में हिन्दी शब्द के प्रयुक्त होने की कल्पना ही व्यर्थ है, क्योंकि ईसा की सदी के हज़ारों वर्ष पहले से ही भारत का ईरानियों से प्रगाढ़ सम्बन्ध रहा है और वे लोग हमारे देश को हिन्दुस्तान तथा हमें हिन्दू के नाम से ही पुकारते थे। यही कारण है कि जो गणित विद्या भारत से ईरान होकर यूनान तथा रोम पहुँची, उसे वहाँ के लोग हिन्दसे और अंकों को हिन्दस नाम दिया। यह गणित विद्या यूनान में पाइथागोरस से भी पूर्व में पहुँच चुकी थी। पाइथागोरस का समय ईसा पूर्व ५८० माना जाता है।

पाइथागोरस यूनान का प्रसिद्ध दार्शनिक तथा गणितज्ञ हुआ है और सुकरात, प्लेटो तथा अरस्तु आदि सभी उसके बाद में हुए हैं, इन सभी के विचारों में भारत की आत्मा के हमें दर्शन होते हैं। यह बात सत्य है कि यूनान से रोम होते हुए जो पूरे हरिवर्ष (वर्तमान यूरोप) में भारतीय या हिन्दू विचारधारा पहुँची उसका माध्यम ईरान था। इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं है कि जब से मानव जाति तथा विभिन्न देशों का इतिहास प्राप्त होता है तभी से हिन्दू तथा ईरान के निकटतम सम्बन्धों की उपलब्धि होती है। शतीर के उदाहरण से यह बात बता चुका हूँ कि ईरान के राजा गस्तागज के समय में जब वहाँ जरदुस्थ का प्रादुर्भाव हुआ था और उनकी विचारधारा से पारसी जातीय जीवन में एक नई जागृति हुई थी, उस समय भारत में भी धार्मिक तथा सामाजिक जीवन में एक विशिष्ट क्रान्ति उत्पन्न करने वाले ब्रह्मर्षि का आविर्भाव हुआ था, जिसको लोग भगवान् व्यास के नाम से जानते हैं। वर्तमान में हिन्दू धर्म की जो भी महत्वपूर्ण

मान्यतायें हैं, उन सभी के संस्थापक वे ही महापुरुष रहे हैं। यदि वर्तमान में हिन्दू धर्म का आदि आचार्य उनको कहा जाये तो भी अत्युक्ति न होगी। जरदुस्थ तथा व्यास जी की भेंट तथा वार्त्तालाप का प्रसंग पाठकों ने पढ़ा है।

पुराणों में एक कथा आती है जिसमें यह लिखा है कि भगवान् श्रीकृष्ण के पुत्र शाम्ब को कुष्टरोग हो गया था। वे सूर्य की आराधना से स्वस्थ हुए। इस उपलक्ष्य में उन्होंने चन्द्रभागा नदी के तट पर एक सूर्य मन्दिर बनवाया और उस मन्दिर के पुजारी शकद्वीप के जरदुस्थ के अनुयायी ब्राह्मण बने। इस कथा से यह स्पष्ट होता है कि मगजाति में जरदुस्थ महाभारत से पहले ही हो चुके थे क्योंकि शाम्ब कृष्ण के पुत्र थे। कृष्ण का काल ईसा पूर्व लगभग ३२ सौ से ३१ सौ वर्ष है। ब्रह्मर्षि व्यास यद्यपि कृष्ण के समय में भी मौजूद थे किन्तु इनसे लगभग एक सौ वर्ष बड़े थे क्योंकि महाभारत के समय पितामह की आयु १८० वर्ष की थी और व्यास जी चार-छः वर्ष उनसे भी बड़े रहे होंगे क्योंकि जिस सत्यवती की अल्प आयु में ही वे पैदा हुए थे, उसकी युवावस्था में भीष्म प्रतिज्ञा करने वाला बालक देवव्रत केवल पाँच वर्ष का था। सारांश यह कि ईसा पूर्व ३३०० वर्ष के लगभग व्यास जी का जन्मकाल है। वही आसपास का काल जरदुस्थ का भी होगा। उनके अनुयायी ब्राह्मणों को सूर्य मन्दिर में पुजारी के रूप में कृष्ण के समय में ही नियुक्त किया गया था। पाठकगण इस बात से ही अन्दाज़ा लगा सकते हैं कि ईरान तथा भारत का सम्बन्ध कितना प्राचीन है। सत्य बात तो यह है कि पारसी हिन्दू जाति के ही अतीत के अंग थे। भारत तथा ईरान दो देशों के रूप में भेद शायद उन दिनों न रहा होगा।

आज के अमृतसर तक सीमित भारत की भौगोलिक सीमा को देखते हुए भले ही कोई मेरी इस बात से चौंक जाये किन्तु जिसको हिन्दुस्तान की कुछ वर्ष पूर्व की सीमा के स्वरूप का ज्ञान है उसे आश्चर्य नहीं होगा। पारसी जाति की मूल मान्यतायें हिन्दू जाति से अधिक दूर या अपरिचित नहीं हैं। जाति-

संस्कार, वर्णव्यवस्था आदि बातें तो बिल्कुल समान हैं। यही कारण था कि जैसे अंग्रेज़ों के अत्याचारों से पीड़ित हिन्दू लोग भारत से भागकर नेपाल जाने में कोई हिचकिचाहट नहीं लाये, ठीक इसी प्रकार मज़हबी उन्माद में अरब के अर्धसभ्य गद्दियों ने जब ईरान पर आक्रमण किया तो हत्या तथा धर्म-परिवर्तन से बचे हुए पारसी भारत में रहने वाले अपने बन्धुओं के पास आने में नहीं हिचकिचाये। शताब्दियाँ गुज़र गई हैं पारसी बन्धुओं को ईरान छोड़कर यहाँ पर आये तब भी किसी ने यह महसूस नहीं किया कि वे लोग विदेशी हैं और न उनको ही कभी ऐसा सोचने का मौका मिला है। इन सभी बातों का सारांश इतना ही है कि हिन्दू शब्द यदि पारसी साहित्य में हमारी जाति अर्थ में है तो इससे यही सिद्ध होता है कि ईसा ईस्वी से हज़ारों वर्ष पहले से ही अन्य देशवासी हमें हिन्दू तथा हमारे देश को हिन्द के नाम से ही जानते, मानते तथा पुकारते थे।

पश्चिम के कई विद्वानों ने तो यहाँ तक कहा है कि विश्व के सभी सभ्य देशों को भारत के हिन्दुओं ने ही बसाया है। ब्रिटेन के प्रसिद्ध अनुसन्धानकर्ता सर हेविट ने अपने एक लेख 'द रूलिंग रेसेज़ ऑफ प्रि-हिस्टोरिक टाइम्स' में यही भाव व्यक्त किया है। फ्रांसीसी लेखक सर बिलडुरा का कहना है कि 'भारत माता हम सबकी माता है, संस्कृत भाषा हम सभी की भाषाओं की जननी है। भारत का दर्शन ही सभी दर्शनों का बीज है। वहाँ का गणित ही हम सबों के गणित का आधार है।' इस प्रकार की एक-दो विद्वानों की ही नहीं बल्कि कई विदेशी विद्वानों ने राय व्यक्त की है। जो पाठक इस विषय में अधिक जानकारी चाहते हों, उनको चाहिए कि उन निष्पक्ष विद्वानों की कृति को ही पढ़ें। यूनान, रोम से भारतीयों के सम्बन्ध के विषय में मिस्टर पोकाक लिखित 'इण्डिया इन ग्रीक' नाम की पुस्तक विशेष द्रष्टव्य है। भला, ' कौन बुद्धिमान व्यक्ति यह कहने का साहस कर सकता है कि जिस हिन्द देश

की इतनी उन्नत अवस्था थी, उसके आदर नहीं अपमान में ही विदेशियों ने इसे हिन्दू नाम से पुकारना प्रारम्भ किया था। इस प्रकार की कल्पना को एक प्रकार का यदि पागलपन ही कहा जाये तो क्या आपत्ति। यह सभी जानते हैं कि अलैग्जेंडर की मृत्यु के बाद उसके सेनापति सैल्युक्स ने अपनी लड़की का विवाह चन्द्रगुप्त से कर दिया था। ग्रीक के इतिहास में उसका नाम सेंट्राकोप्ट आता है। इस सेंट्राकोप्ट या चन्द्रगुप्त को कुछ विद्वान् चन्द्रगुप्त मौर्य ही मान लेते हैं किन्तु कुछ भारतीय विद्वानों ने इसकी छानबीन करके चन्द्रगुप्त द्वितीय स्वीकार किया है क्योंकि सेंट्राकोप्ट सम्राट की राजधानी गंगा-यमुना के संगम से लगभग सौ मील पश्चिम में यमुना के किनारे थी। ऐसा यूनानी राजदूत मेगस्थनीज़ ने अपने संस्मरण में लिखा है किन्तु मौर्य की राजधानी तो गंगा तट पर प्रयाग के पूर्व में पाटलीपुत्र में थी। यही नहीं ऐसी और भी सन्देहजनक बातें मिलती हैं जिनसे अभी यह विद्वानों के लिए खोज का विषय बना हुआ है कि वह सेंट्राकोप्ट कौन है? मेरा इस विषय से इतना ही सम्बन्ध है कि यूनानी राजदूत तत्कालीन भारत को तथा यहाँ के निवासियों को 'इण्डो' नाम से ही जानता था।

'ईसा-पूर्व दूसरी सदी में ग्रीक के दूत हेडियो डोरस ने वेसनगर नामक स्थान पर विष्णु की पूजा में गरुड़-ध्वज बनवाया था।' इस बात को कई एक इतिहासकारों ने अपने लेखों में व्यक्त किया है। यूनान और रोम के लोग सदैव से भारत को 'इण्ड' कहकर पुकारते थे। श्रीदिनकर जी अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'संस्कृति के चार अध्याय' में लिखते हैं कि "इटली के कवि वर्जिल ने भारत को इण्डिया के बजाय 'इण्ड' लिखा है। ईसा-पूर्व ५२२ से ४८६ में लिखा हुआ डेरिथल के शिलालेख में भी हिन्दू शब्द का प्रयोग है।"

इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इस्लाम के जन्म से हज़ारों वर्ष पूर्व ही भारत का सम्बन्ध हरिवर्ष शकद्वीप जिसे आज यूरोप तथा ईरान के नाम

से सब जानते हैं, था और वे सभी लोग हमारे देश को 'इण्ड' तथा देशवासियों को 'इण्डो' के नाम से पुकारते थे। इनके विषय में अधिक प्रमाण खोजने की मैं ज़रूरत नहीं समझता। हज़रत मुहम्मद साहब से लगभग पाँच शताब्दी पूर्व लिखित कवि जरहम-बिन-हाई की कविता में गीता के "परित्राणाय साधूनां" आदि शब्दों के आधार पर भी कृष्णावतार की चर्चा और प्रशंसा की गई है। इसी में महादेव की आराधना को भी अभिमत फल प्रदायिनी बताया गया है। जेरूसेलम के हमोदिया पुस्तकालय में हारूँ रशीद के महामन्त्री फजल विन्नपाहिमा का मुहर लगा हुआ एक ताम्रपत्र मिला है, जिस पर एक सौ अठाईस शेयर लिखे हुए हैं। उनमें भारतवर्ष, वेदों तथा यहाँ की ज्ञान-विज्ञान की बड़ी प्रशंसा की गई है। मिश्रवासी भी कभी भारतीय ही थे। इस विषय में भी अब अधिक सत्य उद्घाटित हुआ है। वहाँ के अल अमर्ना नामक स्थान की खुदाई से पता चलता है कि ईसा-पूर्व १५०० वर्ष यहाँ जो राजा थे, उनके नाम भारतीय संस्कृत भाषा से मिलते-जुलते थे। उन नामों को पढ़कर कोई भी बिना संकोच यह कह देगा कि ये नाम हिन्दुओं के ही हैं। यथा-आर्तमन्य, यज्ञदत, सुतर्ज आदि। इससे भी अधिक रोचक बात यह है कि एक सन्धिपत्र की प्रतिलिपि है जो हिन्नी और मितन्नी राज्यों के बीच की गई सन्धि की सूचक है। इस सन्धि का समय है ईसा के १४०० वर्ष पूर्व। सन्धिपत्र में इन्द्र, वरुण और नासत्यो (अश्विनीकुमार), इन तीन वैदिक देवताओं का उल्लेख है। इन सारी बातों से हम यही निश्चय कर पाते हैं कि इतिहास के आदिकाल से ही ईरान, अरब, मिस्र, यूनान, इटली आदि से हमारे देश का घनिष्ट सम्बन्ध रहा है और सभी इस देश को हिन्द या 'इण्ड' नाम से ही जानते थे। सन्धिपत्र में 'हिन्नी' शब्द हिन्दी का बिगड़ा हुआ रूप है क्योंकि उसमें उल्लिखित देवताओं का नाम स्पष्टत: वैदिक देवताओं का है। अभिप्राय यह है कि भारत के लोगों ने जाकर अन्यान्य देशों को बसाया और उनमें अपनी संस्कृति और सभ्यता द्वारा मानवता की प्रतिष्ठा की।

कुछ अन्य विद्वान लेखकों ने इस विषय में तर्क उपस्थित करते हुए इस बात को असम्भव बताया है। उनका कहना है कि भारत इतना सुन्दर देश है कि मध्यकाल में अनेकों विदेशी जातियाँ यहाँ आकर बस गईं और उन्होंने यहाँ से जाने तक का नाम नहीं लिया, बल्कि यहाँ की संस्कृति और सभ्यता को स्वीकार कर उन्होंने अपना भिन्न अस्तित्व तक भी खो दिया। फिर यह कैसे सम्भव हो सकता है कि प्राचीन काल में यहाँ के मूल निवासी अपनी मनोरम भूमि को छोड़कर विदेशों में जाकर बस गये हों? श्री दिनकर जी ने अपनी 'संस्कृति के चार अध्याय' नामक पुस्तक में इस तर्क को अकाट्य मानकर ही यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि पारसी भारत से ईरान नहीं गये बल्कि मध्य एशिया से आते समय आर्यों की ही एक शाखा ईरान में बस गई और शेष जो सिन्धु पार कर इस क्षेत्र में प्रविष्ट हुए उनको वह हिन्दू नाम से पुकारने लगी। मेरे विचार से इस तर्क में कुछ भी दम नहीं है क्योंकि आज भी लाखों की संख्या में भारतीय विदेशों में जाकर बसे हुए हैं और बस रहे हैं। पहली बात तो यह है कि भारत का सम्पूर्ण भूभाग जो वर्तमान स्थिति में है, ऐसा उस काल में नहीं था, ऐसा शतपथ आदि ब्राह्मण ग्रन्थों के अध्ययन से ज्ञात होता है।

दक्षिण तथा पूर्वी भारत को चन्द्रवंशी राजा ययाति के वंशजों ने ही आबाद किया। उससे पूर्व वह उजाड़ जंगल था। रहा प्रश्न भारत जैसे मनोरम देश को छोड़कर जाने का, सो महाभारत से इस विषय में पूर्ण विवरण प्राप्त होता है। मनु की बड़ी रानी 'दिति' की सन्तान दैत्य (असुर) एवं छोटी रानी 'अदिति' की सन्तान देव या सुर कही जाती थी। यह बात ध्यान देने की है कि जो स्थान संस्कृत साहित्य में 'सुर' शब्द का है वही स्थान अवस्ता (जोकि पारसियों का धर्मग्रन्थ है) में असुर शब्द का है। अवस्ता के अनुसार 'असुर' शब्द शक्तिशाली, पराक्रमी और मनस्वी पुरुष का अवबोधक है। उसमें परमेश्वर का नाम ही 'अहुरमज़द' जो 'असुर महत्' का बिगड़ा हुआ रूप है, कहा गया

है। वैदिक साहित्य में भी 'असुर' शब्द का प्रयोग महान् शक्तिशाली अर्थ में मिलता है।

सुर और असुर, ये दोनों भारतीय जातियाँ थीं। असुरों के गुरु भृगु पुत्र शुक्राचार्य एवं सुरों के गुरु अगिंरा के पुत्र बृहस्पति थे। इन दोनों में प्रायः संघर्ष चलता था। बाद में अदिति पुत्र विष्णु के पराक्रम से हारकर असुरों ने सुदूर पश्चिम में जाकर अपनी राजधानी बसाई जिसे 'असुरिया' या वर्तमान में 'सीरिया' कहते हैं। महाभारत में एक कथा है जिसके अनुसार असुर गुरु शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी तथा असुरराज की पुत्री शर्मिष्ठा का विवाह चन्द्रवंशीय राजा ययाति के साथ हुआ था। देवयानि से दो पुत्र यदु और तुर्वसु एवं शर्मिष्ठा से तीन पुत्र द्रुह्यु, अनु और पुरु हुए। अपनी आज्ञा का उल्लंघन करने के अपराध में राजा ययाति ने अपने बड़े चारों पुत्रों-यदु, तुर्वसु, द्रुह्यु तथा अनु को देश निकाला दे दिया था और छोटे पाँचवें पुत्र पुरु को अपना उत्तराधिकारी बनाया। महाभारत के अनुसार-

यदोस्तु यादवाः जाताः तुर्वसो यवनाः स्मृताः।

यदु के पुत्र यादव, तुर्वसु से यवन, द्रुह्यु से भोज्य तथा अनु से म्लेच्छों की उत्पत्ति हुई। 'इण्डया इन ग्रीक' के लेखक मिस्टर पोकाक का मत है कि यहूदी लोग भी यदु की ही सन्ताने हैं। 'ज्यूडिज़्म' यादविज़्म का ही बिगड़ा हुआ रूप है। तुर्वसु की सन्तान यवनों ने जाकर ग्रीक में अपना राज्य स्थापित किया, जिससे उसका यूनान नाम प्रचलित हुआ। अनु के वंशजों ने अरबिस्तान में अपना राज्य स्थापित किया, उसकी सन्तानें म्लेच्छ कहलाई। महाभारत अनुशासन पर्व के अनुसार पिता क्षत्रिय एवं माता शूद्रा के गर्भ से उत्पन्न हुई सन्तानें म्लेच्छ कही जाती हैं। उनमें वीरता एवं साहसा पिता से तथा अपवित्रता माता के प्राप्त हुए संस्कारों का परिणाम है। अन्य पौराणिक ग्रन्थों में अशुद्ध शब्दों के उच्चारण करने वाले को म्लेच्छ कहा गया है। द्रुह्यु की सन्तानों ने

गान्धार में अपना राज्य स्थापित किया। वैदिक साहित्य में इस बात का जिक्र है कि भुज्यु समुद्र पार गये थे। ऋग्वेद के एक मन्त्र में यह स्पष्ट वर्णन मिलता है कि इन्द्र यदु और तुर्वसु को सकुशल समुद्र पार ले आये।

इससे यह ज्ञात होता है कि यदु और तुर्वसु बाद में समुद्र के रास्ते से पुनः भारत के पश्चिमी भाग में आकर बस गये थे। महाभारत एवं वाल्मीकि रामायण से यह ज्ञात होता है कि भारत में सूर्यवंशियों का प्रभुत्व प्रथम तथा चन्द्रवंशियों का बाद में स्थापित हुआ। कुछ विद्वानों के विचार में सूर्यवंश तथा चन्द्रवंश की उपाधि कैसे मिली यह खोज का विषय है। विदेशी विद्वानों ने इस विषय में कई मनगढ़न्त बातें व्यक्त की हैं, क्योंकि उनके मत से आकाशचारी ग्रह सूर्य और चन्द्र की सन्तानें पृथ्वी पर मानव रूप में उत्पन्न हों, यह असम्भव बात है। भारतीय विद्वानों ने भी इस विषय में कई अटकलें पेश की हैं। कुछ एक के मत से आर्यों का जो समूह भारत में पहले आया, वह चन्द्रवंशी कहलाया। कुछ विद्वानों की राय है सूर्यवंशी सौर मास एवं चन्द्र वंशी चन्द्रमास की गणना को मानते थे। महाभारत से यह बात प्रमाणित होती है। एक वर्ष के गुप्तवास की गणना के विषय में जब विवाद उपस्थित हुआ तो युधिष्ठिर ने कहा था कि "हम चन्द्रवंशी चन्द्रमास की गणना को मानते हैं, अतः तदनुसार ही उसका निर्णय होना चाहिए।" अतः वे इस नाम की उपाधि से अभिहित हुए। किन्तु महाभारत में इस बात का उल्लेख है कि प्रजाति के पुत्र विवस्वान सूर्य हुए हैं जिनके पुत्र मनु हुए। वे सूर्य आकाशचारी ग्रह नहीं बल्कि देहधारी मानव थे। सप्तऋषियों में प्रमुख ऋषि अत्रि के पुत्र चन्द्रमा ऋषि हुए, उनके पुत्र बुद्ध थे। मनु के पुत्र इक्ष्वाकु और इक्ष्वाकु की कन्या इला हुई। इला का सम्बन्ध बुद्ध से हुआ था जिससे महाराजा शर्याति हुए जोकि चन्द्रवंशियों में प्रमुख माने जाते हैं। इस प्रकार के स्पष्ट वर्णन होते हुए भी लोग मनुष्यों के पूर्वजों के रूप में ग्रहों को स्वीकार कर उनके खण्डन-मण्डन में प्रवृत्त होते हैं, यह आश्चर्य की बात है। वाल्मीकि के अनुसार महाराजा शर्याति की राजधानी वाह्लीक देश

में थी जो वर्तमान में बलख कहा जाता है। बाद में उनके वंशजों ने सुदूर पूर्व में आकर अपना नया गणराज्य स्थापित किया, जिसकी राजधानी गंगा-यमुना के संगम तट पर प्रतिष्ठानपुर थी। मगध राज्य के विस्तार काल में वहाँ के तत्कालीन कुछ गणपतियों ने राज्य छोड़कर काबुल जाकर वहाँ पर एक छोटे-से गणराज्य की स्थापना की। प्रतिष्ठानपुर के निवासी होने के नाते उन्हें पठान कहा जाने लगा और उनका उपगनस्थान ही वर्तमान का अफगानिस्तान है।

यह सारा विवरण इस बात को सिद्ध करता है कि महाभारत काल के हज़ारों वर्ष पूर्व से ही चन्द्रवंशी क्षत्रियों का सम्बन्ध सुदूर पश्चिमी देशों से रहा है और वे सभी देशवासी हमें हिन्दू तथा हमारे देश को हिन्दुस्थान के नाम से जानते और पुकारते रहे हैं। भगवान् कृष्ण द्वारा जब कंस का वध हुआ तो उसका श्वसुर जरासंध बदला लेने के लिए मथुरा पर चढ़ आया। बाद में उसके हार जाने पर उसकी सहायता में कालयवन ने मथुरा पर चढ़ाई की। यह कालयवन जरासन्ध का मित्र यूनान का निवासी था। महाभारत युद्ध में भी अरब, यूनान, मिस्त्र, बेबिलोनिया, ईरान, ईराक, तुर्किस्तान आदि देशों के नृपति दोनों में से किसी एक पक्ष की सहायता करने के लिए सम्मिलित हुए थे, क्योंकि महाभारत युद्ध के मुख्य पात्र चन्द्रवंशी ही थे और ये सभी देश चन्द्रवंशियों की सन्तानें थीं जोकि उनके साथ विविध प्रकार के सम्बन्धों से जुड़ी हुई थीं।

सूर्यवंश का विस्तार भी सुदूर पश्चिमी देशों तक हुआ था किन्तु चन्द्रवंशियों की अपेक्षा उनका प्रभाव न्यून था, कारण कि उनके विचारों में इतनी उदारता न होने से वे अन्य जातियों को आत्मसात नहीं कर सके। उनके नियमों में भी अधिक कठोरता थी, अतः दूसरे लोग उनके साथ एक नहीं हो सके, किन्तु यह बात चन्द्रवंशियों में नहीं थी। कुछ विद्वानों की राय है कि सूर्यवंशी शुद्ध संस्कृत भाषा का प्रयोग करते थे और चन्द्रवंशियों का उच्चारण उनसे कुछ भिन्न था।

मिस्टर हौर्नले ने बड़ी छानबीन के साथ यह बात सिद्ध करने की कोशिश की है कि सूर्यवंशी संस्कृत भाषा से राजस्थानी, पहाड़ी, पंजाबी और पूर्वी हिन्दी का जन्म हुआ और चन्द्रवंशी संस्कृत से मराठी, गुजराती, नैपाली और हिन्दी निकली है। यह उनकी खोज कहाँ तक युक्ति-संगत है, इस विषय में मुझे कुछ नहीं कहना है किन्तु यह बात सत्य है कि विभिन्न प्रान्तों की भाषाओं के शब्दोच्चारण में जो अन्तर है, वह अकारण ही नहीं है। चन्द्रवंशियों का भारतेतर देशों से घनिष्ठ सम्बन्ध होने के नाते शब्दोच्चारण में भेद होना स्वाभाविक ही था। अधिकांशतः संस्कृत की अपेक्षा वे लोग प्राकृत या अपभ्रंश का ही व्यवहार करते रहे हों, यह भी असम्भव नहीं। विद्वानों की राय है कि हमारे देश हिन्दुस्तान एवं जाति के लिए हिन्दू शब्द का जो प्रयोग होता रहा है, वह संस्कृत नहीं बल्कि प्राकृत भाषा का शब्द है। यही कारण है कि प्राचीन संस्कृत साहित्य में तो उसका उल्लेख नहीं मिलता, किन्तु तत्कालिन पारसी एवं अन्य विदेशी साहित्य में वह हमारे जाति अर्थ में विभिन्न स्थानों पर प्रयुक्त हुआ है।

हरि ॐ तत्सत्।

४. 'हिन्दू' सिन्धु का अपभ्रंश नहीं : एक विश्लेषणात्मक विवेचन

'हिन्दू' सिन्धु का अपभ्रंश है, इस विषय में कई विद्वानों ने अनेक प्रकार की युक्तियों का सहारा लेकर सिद्ध करने की कोशिश की है किन्तु यहाँ पर यह बात विचारणीय है कि यदि 'सिन्धु' से बिगड़कर 'हिन्दू' हो गया और यहाँ के निवासियों ने उसे स्वीकार कर लिया तो 'सिन्धु' नदी को 'हिन्दू' नदी क्यों नहीं कहा जाने लगा? इतना ही नहीं बल्कि सिन्धु तट पर रहने वाले आज भी हिन्दुओं का एक समुदाय 'सिन्धी' नाम से पुकारा जाता है। यदि ऐसा हुआ होता तो उन्हें भी 'सिन्धी' न कहकर 'हिन्दी' नाम से ही पुकारा जाता। कुछ विद्वान् लेखक यह कहते हैं कि पारसी लोग 'सकार' के स्थान पर 'हकार' का प्रयोग करते हैं इसलिए उन्होंने 'सिन्धु' को 'हिन्दू' नाम दिया। बाद में पारसियों के माध्यम से ही अन्य पश्चिमी देशों के साथ सम्बन्ध होने से 'हिन्दू' के 'हि' के लोप हो जाने से 'इण्डो' बन गया और ग्रीक तथा लैटिन भाषा भाषी लोग 'इण्डो इण्डस' तथा हमारे देश को 'इण्डिया' कहकर पुकारने लगे। इसमें सत्यता कहाँ तक है, यह तो निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता, किन्तु यह बात समझ से बाहर की है कि दूसरों द्वारा दिये हुए नाम को सम्पूर्ण भारतवासियों ने बड़े गौरव के साथ स्वीकार कैसे कर लिया? यदि वर्तमान के विभिन्न प्रान्तों की प्राकृत भाषाओं को देखते हुए यह स्वीकार कर लिया जाये कि जैसे 'सिन्धु', 'सिन्धराज' या 'सिन्धी' शब्द व्यवहृत हुआ करता था, इसी

प्रकार से 'हिन्दू', 'हिन्दराज' या 'हिन्दी' शब्द भी व्यवहार में प्रयुक्त होता आ रहा तो उसमें आपत्ति के लिए स्थान नहीं। वर्तमान के संस्कृत साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान श्री दामोदरपाद सातवलेकर लिखते हैं कि 'हिन्दू' शब्द भी उतना ही प्राचीन है जितना 'भारतीय' शब्द। अब तक के संशोधन के आधार पर हिन्दू शब्द की प्राचीनता ईसा पूर्व ४८६ वर्ष तक मानी गई है। उनका कहना है कि 'हिन्दू' शब्द 'सिन्धु' का अपभ्रंश नहीं। भाषा शास्त्रियों का यह मत कि 'स' का 'ह' हो जाने से 'सिन्धु' का 'हिन्दू' हुआ, तर्कसंगत नहीं है, क्योंकि संस्कृत ग्रन्थों में भी 'हिन्दू' शब्द मिलता है। प्राचीन संस्कृत साहित्य में प्राकृत शब्द का प्रयोग नहीं होता था। 'हिन्दू' शब्द संस्कृत नहीं प्राकृत भाषा का है, वीर सावरकर का भी यही मत है।

मेरे विचार से 'हिन्दू' शब्द सामान्यजन की व्यावहारिक भाषा में प्रयुक्त होता रहा है। बौद्धकाल के बाद जबकि प्राकृत तथा अपभ्रंश शब्दों का प्रयोग साहित्यिक रूप में होने लगा, उस समय से हमारे जाति अर्थ में विश्व प्रचलित जो 'हिन्दू' शब्द था उसका प्रयोग भी संस्कृत ग्रन्थों में होने लगा। 'मेरुतन्त्र', 'कालिका पुराण', 'हेमन्त कवि कोष', 'रामकोष', 'अद्‌भुत कोष', 'मेदिनी कोष', 'शब्द कल्पद्रुम', 'बार्हस्पत्य शास्त्र', 'पारिजात हरणनाटक' और 'भविष्य पुराण' आदि ग्रन्थों में इसका हमारे जाति अर्थ में विशेष रूप से प्रयोग मिलता है। इनमें से अधिकांश लेखकों ने 'हिन्दू' शब्द हमारे जाति अर्थ में एक विशिष्ट गुणबोधक रूप में ही प्रयुक्त किया है। भविष्य पुराण के 'प्रतिसर्ग' पर्व अध्याय पाँच में 'हप्त हिन्दुर्यावनी च' कहकर संकेत किया है कि 'सप्त सिन्धु' का अपभ्रंश ही 'हप्तहिन्दू' है, जोकि यावनी भाषा में प्रयुक्त हुआ है किन्तु इस पुराण का लेखक बहुत ही अर्वाचीन काल का है, अतः इसको अधिक महत्व देना उचित नहीं। मेरु-तन्त्र ग्रन्थ जोकि इसकी अपेक्षा विद्वानों की राय से अधिक प्राचीन है, उसमें 'हिन्दू' शब्द की व्याख्या करते हुए विद्वान् लेखक ने लिखा

है–'हीने च दूषयत्येष हिन्दूरित्यभिधीयते' अर्थात् हीन को दूषित करने वाला या हीनता को त्यागने वाला 'हिन्दू' कहा जाता है। इस विषय में अधिक उद्धरण आगे दिया जायेगा। अभी तो मैं इतना ही बताना चाहता हूँ कि हिन्दू शब्द हमारे जाति अर्थ में एक विशिष्ट गुण का अवबोधक है।

'ऐनसाइक्लोपीडिया आफ रिलिजन' में हिन्दू शब्द के विषय में लिखा है–''ईसा पूर्व ४८६ के डेरियस के शिलालेख में 'हिन्दू' नाम हिन्दस के रूप में मिलता है।'' यहाँ यह बात विचारणीय है कि अंग्रेज़ी विद्वानों ने भी 'हिन्दू' शब्द को 'हिन्दस' से ही सम्बन्धित स्वीकार किया है। यदि यह शब्द 'सिन्धु' का अपभ्रंश होता तो इस प्रसंग में उसका अवश्य ही जिक्र किया जाता। केवल पश्चिमी विद्वानों ने ही नहीं बल्कि चीन यात्री ह्यू न्सांग बहुत वर्षों तक यहाँ रहकर गया था और उसने हमारे देश के लिए अपने स्मृति ग्रन्थ में 'हिन्दू' नाम का प्रयोग किया है। दूसरा चीनी यात्री युवान्यांग लिखता है कि 'इस देश का इन्दु नाम यथार्थ है, क्योंकि इस देश की सम्पत्ति 'इन्दु' (चन्द्र) के समान ही मनुष्य की भ्रान्तात्मा के लिए शान्ति और आनन्द देने वाली है।' ह्यून्सांग ईसवी ६३० में भारत आया था जबकि इस्लाम धर्म की गन्ध भी यहाँ तक नहीं पहुँची थी, किन्तु उसने इस देश को अपने यात्रा वृत्तान्त की भूमिका में 'इन्दु' नाम से स्मरण किया है। 'इन्दु' 'हिन्दु' का ही बिगड़ा हुआ रूप है 'सिन्धु' का नहीं और यह बात मैं पहले ही बता चुका हूँ कि यदि 'सिन्धु' के स्थान पर ही विदेशियों द्वारा हमारी जाति के लिए 'हिन्दू' शब्द का प्रयोग किया होता तो यहाँ के अबाल वृद्ध जनमानस में इस शब्द का न तो इतना प्रचलन ही होता और न इतनी आस्था ही। इस सम्बन्ध में वीर सावरकर का यह मत कि 'हिन्दू' शब्द प्राकृत भाषा का है, माननीय है। तर्कसंगत बात भी यही है कि जन सामान्य की बोलचाल की भाषा साहित्यिक भाषा से सर्वथा भिन्न हुआ करती है। प्राचीनकाल में भी

यही स्थिति थी। दैनिक व्यवहार में प्रयुक्त होने वाली भाषा जिसे प्राकृत या अपभ्रंश कहते हैं, रही।

प्राचीन संस्कृत साहित्य में हमें जो कुछ भी वैयक्तिक या सामाजिक उन्नति के लिए व्यावहारिक तथा पारमार्थिक ज्ञान-विज्ञान का संदेश दिया गया है, वह किसी एक राष्ट्र, जाति, समाज या धर्म विशेष के लिए नहीं बल्कि सम्पूर्ण मानव जाति के अभ्युदय एवं निःश्रेयस की सिद्धि के लिए है। यही कारण है कि प्राचीन साहित्य में सर्वत्र सम्बोधन या आदेश में 'मानव' शब्द का प्रयोग किया गया है। हमारे शास्त्र निर्माता महर्षियों के हृदय में एक सीमित देश व तद्गत जाति की ही नहीं बल्कि विश्व कल्याण की भावना कार्य करती थी। सम्पूर्ण प्राणियों में एकात्मभाव का दर्शन करने वाले मनीषी भला सर्वहितकारी भावनाओं को किसी एक सीमित जाति के लिए ही क्यों कर प्रयुक्त करते? अतः प्राचीन साहित्य में यदि 'हिन्दू' शब्द का प्रयोग नहीं मिलता तो इसमें साहित्य निर्माताआएं की विशाल दृष्टि ही हेतु है। पाठकगण अच्छी प्रकार से जानते हैं कि 'नानापुराण निगमागम सम्मत श्री रामचरितमानस' जैसे महाकाव्य के रचयिता गोस्वामी तुलसादीस जी ने अपने विशाल ग्रन्थ में कहीं भी 'हिन्दू' शब्द का प्रयोग नहीं किया है। क्या इसका अभिप्राय यह मान लिया जाये कि इस काल में 'हिन्दू' शब्द हमारे जाति अर्थ में अपने गौरवपूर्ण स्थान पर प्रतिष्ठित नहीं था? एक बात यहाँ पर समझ लेने की है कि 'आर्य' तथा 'देव' शब्द का प्रयोग सदा ही अपने से श्रेष्ठ या विद्वान् और सदाचारी पुरुष के लिए ही होता रहा है, जाति अर्थ में नहीं। यही कारण है कि वैदिक ऋषियों ने विश्व को आर्य बनाने का आदेश दिया है।

उपर्युक्त विवेचन से यह बात निश्चित हो जाती है कि 'हिन्दू' शब्द हमारे जाति अर्थ में प्राचीनकाल से ही प्रयुक्त होता आ रहा है, विभिन्न देशों के निवासी हमें 'हिन्दू' नाम से ही जानते रहे हैं, यह 'हिन्दू' 'सिन्धु' का

अपभ्रंश नहीं बल्कि स्वयं में स्वतन्त्र शब्द है। इससे पूर्व कि मैं संस्कृत साहित्य में तथा शब्दकोश में प्रयुक्त हुए शब्दार्थ पर विचार करूँ, अपने पाठकों को यह बता देना उचित समझता हूँ कि विदेशी लोग 'हिन्दू' शब्द का प्रयोग हमारे लिए बड़े ही आदर के साथ करते रहे हैं। अरबी ग्रन्थ 'सोहव मो अलक्क' में एक वाक्य है-''भाई-बन्धुओं का अत्याचार हिन्दू तलवार से भी घातक होता है।'' टर्की इस्तम्बूल में मकतबे सुलतानिया नामक प्रसिद्ध पुस्तकालय में पश्चिमी एशियाई साहित्य का संग्रह है। इस पुस्तकालय के अरबी अनुभाग में प्राचीन अरबी पद्य का साहित्यिक संग्रह है। एक प्राचीन ग्रन्थ में इसकी रचना १७४२ ई. में टर्की के शासक सुलताना सलीम के आदेश पर हुई थी। यह साहित्यिक संग्रह 'सेअरूल-ओकुल' के नाम से पुकारा जाता है। यह संग्रह प्राचीन अरबी पद्य का सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रामाणिक साहित्यिक ग्रन्थ माना जाता है। सेअरूल-ओकुल के पृष्ठ २५७ पर एक महत्वपूर्ण कविता है, जिसका रचयिता लबी-बिन-ए-अख्तब-बिन-ए-तुरफ़ा है। यह पैगम्बर मुहम्मद से २३०० वर्ष पूर्व हुआ था। प्रमाण रूप में लबी की कविता का नमूना दिल्ली के लक्ष्मीनारायण मन्दिर (बिड़ला मन्दिर) में खम्भों पर लिखवाया हुआ है। इतने समय पूर्व भी अर्थात् लगभग अठारह सौ वर्ष पूर्व भी लबी ने वेदों की अनन्य काव्यमय प्रशंसा की है तथा प्रत्येक वेद का अलग-अलग नामोच्चारण किया है। उसमें वैदिक धर्मानुयायियों को हिन्दू शब्द से सम्बोधित किया गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि हज़रत मुहम्मद से २३०० वर्ष पूर्व अर्थात् १८०० बी.सी. में भी मध्य एशिया के लोग वैदिक धर्मानुयायियों को सम्मानपूर्ण हिन्दू तथा उनके देश को हिन्द कहकर पुकारते थे अर्थात् आज से ४००० वर्ष पूर्व हमारे लिए हिन्दू शब्द प्रयोग करते थे।

यह मैं पहले बता चुका हूँ कि मुहम्मद साहब के जन्म से हज़ारों वर्ष पहले ही भारत तथा अरब के लोग एक-दूसरे से परिचित थे। इस्लाम के उदय

के बाद भी 'खलीफा मन्सूर' के समय में भारतीय ज्ञान-विज्ञान अरब में प्रचलित था। खलीफा-हारूँ-रसीद ने अपनी चिकित्सा के लिए भारत से वैद्य बुलाया था, यह ऐतिहासिक तथ्य है। अल्बरूनी ने अपनी पुस्तक 'किताबुल हिन्द' में बड़े ही आदर के साथ हिन्दुओं के ज्ञान और संस्कृति की महिमा का वर्णन किया है। 'खलीफा-हारूँ-रसीद' के समय में हिन्दू संस्कृति से बगदाद का दरबार आप्लावित हो रहा था। बरमक नाम के वजीर खानदान की वहाँ बड़ी प्रतिष्ठा थी। वे बलख के निवासी थे। उनके पूर्वज बलख के नव विहार के पदाधिकारी रह चुके थे। वे हिन्दू थे इसलिए भारत से प्रेम करते थे। यह याद रखना चाहिए कि आठवीं सदी के प्रारम्भ में ही सिन्धु और बलख को अरब साम्राज्य में मिला लिया गया था। आठवीं सदी में ही भारत के महान् सपूत बापा रावल हुए हैं जिन्होंने चित्तौड़गढ़ राजस्थान में विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी और अपने शौर्य के प्रभाव से तत्कालीन अन्य राजाओं द्वारा 'हिन्दुआन सूर्य की उपाधि से विभूषित किये गये थे।'

उपर्युक्त विवेचन का अभिप्राय केवल इतना ही है कि अरब और ईरान के लोग 'हिन्दू' शब्द का प्रयोग हमारे लिए आदर के साथ करते थे। वहाँ के निवासियों द्वारा यह शब्द न तो घृणा की ही भावना से प्रयुक्त होता था और न उसके प्रति किसी प्रकार की बुराई करने की ही धारणा थी। हिन्दू विचारधारा के प्रति वहाँ के लोगों में कितना झुकाव था, इसके प्रमाण में 'मुहम्मद साहब' के पश्चात् उनके निश्चित सिद्धान्तों के विपरीत भवना का विकास वहाँ के एक विशिष्ट वर्ग में देखी जा सकती है। शियों के एक सम्प्रदाय ने अपने सिद्धान्तों में 'गुलूब' और 'तकसीर' की घोषणा की। 'गुलूब' का अर्थ होता है कि मनुष्य ईश्वर कोटि तक पहुँच सकता है, ईश्वर बन सकता है। 'तकसीर' का अभिप्राय है कि ईश्वर भी चाहे तो मनुष्य रूप में प्रकट हो सकता है। इसी सिद्धान्त ने हजरत अली में देवत्व का आरोप किया है। यह निःसन्देह विशुद्ध हिन्दू

विचारधारा अरब निवासियों के लिए घृणित या उपेक्षणीय नहीं बल्कि आदरणीय थी। नीतिशास्त्र के अद्वितीय ग्रन्थ पंचतन्त्र का अनुवाद पहले ईरान के 'सासानी' सम्राट नौशीखान के समय फारसी भाषा में हुआ था। फिर 'अबदुल्लाह-बिने-युक्फ्फना तिगल' ने दूसरी शताब्दी में इसे अरबी रूप दिया और उस पुस्तक में बड़े आदर के साथ लिखा-'इन किताब आउर देयम अज उल्माव ब्रमिनाने हिन्द।'

इस अनुवादित पुस्तक का नाम फारसी व अरबी में कलिला व दमना है। अब इससे पाठकगण समझ गये होंगे कि बाद में जो किसी उर्दू व फारसी शब्दकोश में 'हिन्दू' शब्द का अर्थ ज़ाहिल, रहजन या काफिर किया गया है, वह केवल बाद में साम्प्रदायिक विकृत बुद्धि वाले व्यक्तियों के मनोभाव का ही परिचायक है। मूलतः अरब देश के निवासी 'हिन्दू' शब्द के प्रति इस प्रकार के दूषित भाव पहले कभी भी नहीं रखते थे। अब आगे संस्कृत साहित्य में 'हिन्दू' शब्द में निहित अर्थ पर विचार किया जायेगा।

हरि ॐ तत्सत्।

५. संस्कृत साहित्य में हिन्दू शब्द की व्याख्या

हिन्दू शब्द संस्कृत में 'हिसि' तथा 'दू', इन दो धातुओं के योग से निष्पन्न होता है। 'हिसि' धातु हिंसा के अर्थ में प्रयुक्त होता है और 'दू' का अर्थ होता है 'कम्पन' जिसका संयुक्त अर्थ होता है 'हिंसयादूयते' अर्थात् हिंसा से जिसका हृदय कम्पित होता है, वह हिन्दू है।

हिन्दू शब्द की व्याख्या करते हुए भारत के प्रसिद्ध सन्त विनोबा भावे कहते हैं–

यो वर्णाश्रमनिष्ठावान् गोभक्तः श्रुतिमातृकः।
मूर्तिं च नावजानाति सर्वधर्मसमादरः।।
उत्प्रेक्षते पुनर्जन्म तस्मानमोक्षणमीहते।
भूतानुकूल्यं भजते स वै हिन्दुरितीरितः।।

''जो वर्णों और आश्रमों की व्यवस्था में निष्ठा रखने वाला, गो-सेवक, श्रुतियों को माता की भांति पूज्य मानने वाला तथा सब धर्मों का आदर करने वाला है; देवमूर्ति की जो अवज्ञा नहीं करता, पुनर्जन्म को मानता, उससे मुक्त होने की चेष्टा करता है तथा जो सदा सब जीवों के अनुकूल बर्ताव को अपनाता है, वही हिन्दू माना गया है। हिंसा से उसका चित्त दुःखी होता है, इसलिए उसे हिन्दू कहा गया है।''

श्री प्रभाकर श्रीधर रोड़े ने वृद्ध स्मृति नामक ग्रन्थ से एक श्लोक को उद्‌धृत किया है, जिसमें हिन्दू शब्द का लक्षण इस प्रकार बताया गया है-

हिंसया दूयते यश्च सदाचरणतत्परः।
वेदगोप्रतिमासेवी च हिन्दुमुखशब्दभाक्।।

"जो हिंसा से दु:खित होता है, सदाचार पालन में तत्पर है, वेद, गऊ और देव प्रतिमा की उपासना करने वाला है, वह हिन्दू शब्द से अभिहित किया जाता है।"

मेरुतन्त्र में हिन्दू शब्द का एक विशिष्ट अर्थ में प्रयोग किया गया है। भगवान् शंकर पार्वती से कहते हैं-

हिन्दू धर्म प्रलोप्तारो जायते चक्रवर्तिनः।
हीनं च दूषयत्येव हिन्दुरित्युच्यते प्रिये।।

(प्रकाश/२३)

"कलियुग में कितने ही चक्रवर्ती राजा हिन्दू धर्म का लोप करने वाले होंगे। प्रिये! जो हीन वृत्ति और हीन आचार को दूषित वा निन्दय समझकर उसका त्याग करता है, वह हिन्दू कहा जाता है।" विद्वानों की राय से मेरुतन्त्र की रचना आठवीं शताब्दी में हुई थी। उस समय भारत में क्षत्रियों का स्वतन्त्र आधिपत्य था।

शब्द कल्पद्रुम में भी हिन्दू शब्द को निष्पत्ति और व्याख्या मेरुतन्त्र के ही समान है। उसमें कहा है-

हीनं दूषयति इति हिन्दुः।

"जो हीन को दूषित करे अथवा हीन को त्याज्य समझता है वह हिन्दू है।" इस सम्बन्ध में कोशकार ने-**'पृषोदरादीनि यथोपदष्टिम'** (१४८३) पाणिनी के इस सूत्र के अनुसार-**'पृषोदरादित्वात् साधुजाति-विशेषः'** और इस

नियम के अनुसार हिन्दू शब्द जाति विशेष का नाम है, ऐसा सिद्ध किया है। अद्भुत कोश में भी ऐसी ही व्याख्या है-

हिन्दुर्हिंदूश्च प्रसिद्धौ दुष्टानां च

विधर्षणे रूपशालिनी दैत्यारौ।

"'हिन्दु' और 'हिन्दू' शब्द दुष्टों को हीन-तिरस्कृत करने वाले के अर्थ में प्रसिद्ध हैं। सुन्दर रूप से सुशोभित तथा दैत्यों के शत्रु-इन दोनों अर्थों में भी इनका प्रयोग होता है।" पारिजातहरण नाटक में-

हिनस्ति तपसा पापान् दैहिकान् दुष्टमानसान्।

हेतिभिः शत्रुवर्गाश्च स हिन्दुरभिधीयते।।

"जो अपनी तपस्या से दैहिक पापों एवं चित्त को दूषित करने वाले दोषों का नाश करता है तथा जो शस्त्रों से अपने शत्रु समुदाय का भी संहार करता है, वह हिन्दू कहलाता है।" हेमन्त कवि कोश की उक्ति है-

हिन्दूर्ति नारायणादि देवता भक्तः।

"भगवान नारायण आदि देव की उपासना करने वाले को हिन्दू कहते हैं।" रामकोश के अनुसार-

हिन्दुर्दुष्टो न भवति नानार्यो न विदूषकः।

सद्धर्म पालको विद्वान् श्रौत धर्म परायणः।।

"हिन्दू दुष्ट बुद्धि, अनार्य और विदूषक नहीं होता। सद्धर्म पालक, विद्वान् तथा वैदिक धर्म में आस्था रखने वाले को हिन्दू कहते हैं।"

संस्कृत साहित्य तथा विभिन्न कोशों के द्वारा ऊपर दिये गये प्रमाणों से हिन्दू शब्द में निहित भाव गाम्भीर्य की दो रूपों में अभिव्यक्ति होती है। एक हिंसा से जिसका हृदय दुःखित होता है, वह हिन्दू है, दूसरा हीन विचार, भाव और कर्म आदि को दूषित व निन्दय समझकर उसका त्याग करता है, वह हिन्दू

है। इस प्रकार श्रेष्ठ गुणों से सम्पन्न, अहिंसाव्रत का पालक, उच्च विचार, भाव तथा कर्म का आश्रय ले जीवन को उन्नत करने वाला हिन्दू कहा जाता है। हिन्दू शब्दगत यह गौरवपूर्ण अर्थ ही हिन्दू जाति की महत्ता का अवबोधन करा रहा है। यही कारण है कि व्यासदेव से लेकर बापा रावल, महाराज पृथ्वीराज, राणा सांगा, राणा प्रताप, छत्रपति शिवाजी तथा गुरु गोविन्द सिंह आदि महापुरुष गौरव के साथ अपने जाति अर्थ में स्वयं को हिन्दू शब्द से सम्बोधित करते रहे हैं।

शारंगधर पद्धति के लेखक ने बड़े दु:ख के साथ लिखा है-

यवनैश्वनिः क्रान्ता हिंदवो विन्ध्यमाविशन्।
बलिना वेदमार्गोऽयं कलिना कवलिकृतः।।

"यवनों ने इस पृथ्वी पर अधिकार कर लिया और पीड़ित हिन्दू विन्धयगिरि की गुफाओं में प्रवेश कर गये। अहो! बलवान् कलिकाल ने इस वैदिक मार्ग को अपना ग्रास बना लिया।" इसी से मिलता-जुलता श्लोक कलिका पुराण में भी है-

बलिना कलिनाऽऽच्छन्ने धर्मे कवलिते कलौ।
यवनैश्वनिः क्रान्ता हिन्दवो विन्धयमाविशन्।।

"कलि में बलवान कलियुग द्वारा जब धर्म का स्वरूप आच्छादित एवं विलुप्त हो गया, तब यवनों ने इस भूमि पर अधिकार कर लिया और हिन्दू विन्ध्य प्रदेश में चले गये।"

इन श्लोकों में जो यवन शब्द का प्रयोग है उसे मुसलमानों के अर्थ में स्वीकार करना एक बहुत बड़ी भूल होगी क्योंकि ग्रन्थकार का यह कथन कि यवनों ने पृथ्वी पर अधिकार कर लिया और हिन्दू विन्ध्य प्रदेश में चले गये, यह विशेष ध्यान देने योग्य बात है। मुसलमानों के आक्रमण काल में इस प्रकार

की घटना का कोई उदाहरण नहीं मिलता। मेरे विचार से यह स्थिति हूणों और कुशाणों के आक्रमण काल में आई होगी जबकि कन्नौज और कौशाम्भी तक का सारा भारत उनके अधिकार में हो गया था और यह सर्वविदित है कि हिन्दुस्थान के ऊपर हूणों और कुशाणों का आक्रमण इस्लाम की उत्पत्ति से कई शताब्दियों पूर्व हुआ था। इन उदाहरणों से भी पाठकगण समझ सकते हैं कि हमारे जाति अर्थ में हिन्दू शब्द कब से प्रयुक्त होता आ रहा है। इतिहास यह बताता है कि भारत पर सर्वप्रथम विदेशी आक्रमण करने वाले सिकन्दर ने भी हिन्दुकुश पर्वत पर जाने की इच्छा व्यक्त की थी। इससे यह स्पष्ट होता है कि हिन्दू शब्द उस समय भी प्रचलित था।

बृहस्पति आगम में हिन्दू शब्द की व्याख्या हमारे देश की भौगोलिक सीमा को अभिव्यक्त करने वाले अर्थ में की गई है-

हिमालयं समारम्भ्य यावदिन्दुसरोवरम्।
तं देवनिर्मितं देशं 'हिन्दुस्थानं' प्रचक्षते।।

''हिमालय पर्वत के 'हि' शब्दोपलक्षित परले किनारे से आरम्भ करके इन्दु-सरोवर=कुमारी अन्तरीप के 'न्दु' शब्दोपलक्षित अन्तिम प्रदेश की समाप्ति-पर्यन्त देवनिर्मित विस्तृत स्थल का नाम 'हि+न्दु=स्थान' है।''

संस्कृत साहित्य की एक महत्वपूर्ण प्राचीन पुस्तक 'श्री राम संवाद' बड़ी जीर्ण-शीर्ण अवस्था में १९४८ को श्री देवेन्द्र कमल को प्राप्त हुई थी। यह पुस्तक ब्राह्मी भाषा में लिखी हुई थी। पुस्तक का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि इसकी रचना सम्भवतः ईसवी सन् के पूर्व में हुई होगी। इसमें १९ अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय के अन्त में 'इति वाल्मीकि विरंचते श्री राम संवादे' अमुक विषय नाम अमुक अध्याय आदि कह करके समाप्ति की गई है। इस पुस्तक में भगवान् श्री राम द्वारा अपनी राज्य सभा में उपस्थित ऋषियों तथा मन्त्रियों के प्रश्न का उत्तर दिया गया है। इस संवाद में कई बार अपने जाति

अर्थ में भगवान् राम ने इन्दू तथा हिन्दू शब्द का प्रयोग किया है। एक स्थान पर स्पष्ट शब्दों में भगवान् राम कहते हैं-

न त्वं विप्रो न क्षत्रो वा न वैश्यः शूद्र एव वा।
हिन्दुरेवा समाख्यातो वेदमार्गे प्रतिष्ठितः।।
हिन्दूनां कोऽपि भेदो न स्वीकर्तव्यः खलु त्वया।
यावज्जीवेः सदा भूयाहिन्दु सेवा सु-तत्परः।।

(राम संवाद ११/३०-३१)

"तुम ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र नहीं हो। वेदमार्ग में प्रतिष्ठित तुम सभी लोग हिन्दू हो। तुम्हें हिन्दू हिन्दू में किसी प्रकार का भेद नहीं करना चाहिए। तुम्हारा समग्र जीवन सर्वरूप से हिन्दुओं की सेवा में समर्पित होना चाहिए।" उसी पुस्तक के आठवें अध्याय में लिखा है-

समाज इन्दूनां यस्तु विधात्रा रचितः स्वयम्।

(राम संवाद ८/५०)

"हिन्दू समाज की रचना स्वयं परमात्मा ने की है।" इस पुस्तक के अध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि हमारे जातीय अर्थ में हिन्दू शब्द का भी प्रयोग होता रहा है। इस श्लोक में कहा गया है-

इन्दुवंशोद्रकः ये च भ्रातरस्ते न संशयः।
आत्मप्रीति मतिकभ्य कर्त्तव्य तेषु प्रीणनम्।।

(राम संवाद ८/४४)

"इन्दू वंश में जो उत्पन्न हुए हैं वे आपस में भाई-भाई हैं, इससे सन्देह नहीं।" इसी बात को और स्पष्ट करते हुए कहा गया है-

करुणामयेन हीशेन ध्रुवं वेदं प्रकाशितम्।
इन्दूनां चन्द्रसूनूनां वेदमाश्रित्य चकैता।।

(राम संवाद ९/९)

"निश्चय ही करुणामय प्रभु की कृपा से हम लोगों के लिए वेद का प्रकाश हुआ है। हम सभी चन्द्र वंश में उत्पन्न हुए लोग वेद का समाश्रय ले एकता में आबद्ध रहें।"

इस पुस्तक के जाति अर्थ में प्रयुक्त इन्दू शब्द हमें बरबस चीनी यात्री च्यांग के संस्मरण में वर्णित इन्दू शब्द की याद दिलाता है। इन्दू तथा हिन्दू शब्द वेदनुयाइयों के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। आज भी वैदिक धर्मावलम्बी ही हिन्दू शब्द से अभिहित किया जाता है।

केवल प्राचीन ग्रन्थों में ही नहीं, इस युग के माननीय विद्वानों ने भी हिन्दू शब्द की व्याख्या में विविध प्रकार से अपने मन्तव्यों को व्यक्त किया है। माननीय बाल गंगाधर तिलक का कथन है-

प्रामाण्यबुद्धिर्वेदेषु नियमानामनेकता।
उपास्यानामनियमो हिन्दुधर्मस्य लक्षणम्।।

अर्थात् वेदों में प्रमाण बुद्धि रखना, नानाविध नियमों का पालन तथा अनेक प्रकार से ईश्वर की उपासना करना हिन्दू धर्म का लक्षण है। वीर सावरकर का मत है-

आसिन्धोः सिन्धुपर्यन्ता यस्य भारत भूमिका।
पितृभूः पुण्यभूश्चैव स वै हिन्दुरिति स्मृतः।।

"सिन्धु नद से लेकर समुद्र पर्यन्त की भारत भूमि जिसकी पितृ भूमि और पवित्र भूमि हो, वह हिन्दू है।" महामना श्रद्धेय स्वामी करपात्री जी कहते हैं-

गोषु भक्तिर्भवेद्यस्य प्रणवे च दृढ़ा मतिः।
पुनर्जन्मनि विश्वासः स वै हिन्दुरिति स्मृतः।।

"गो माता में जिसकी भक्ति हो, ओंकार जिसका मूल मन्त्र हो, पुनर्जन्म में जो विश्वास करता हो, वह हिन्दू है।" इस प्रकार और भी कई विद्वानों

ने हिन्दू शब्द को गौरव के साथ अपने जातीय अर्थ में स्वीकारते हुए उसकी महत्ता व्यक्त की है।

सूत्र रूप से हिन्दू शब्द और उसमें निहित भावार्थ का सारांश इस प्रकार है-

हिंसया दूयते यस्य हृदयं सः हिन्दू।

"हिंसा से जिसका हृदय दुःखित होता है, वह हिन्दू है।"

अपने शरीर की सुख-सुविधा के लिए मन, वचन, कर्म से किसी जीव को दुःख पहुँचाना ही हिंसा है। शरीर को ही अपना स्वरूप मानने से हिंसा में प्रवृत्ति होती है। शरीर में ही आत्म-बुद्धि करना आत्म-हनन है।

अज्ञानी ही शरीर को अपना स्वरूप मानते हैं। ऐसे मन्द बुद्धि वाले लोगों का मत है कि इस संसार के सभी जड़ चेतन पदार्थ केवल मनुष्य के उपभोग के लिए ही बने हैं। वे ही अज्ञानी शरीर सुख के लिए अकारण सभी जीवों को पीड़ा पहुँचाते हैं। ऐसे ही अपवित्र स्वभाव वाले इन्द्रियारामी, असुर, अनार्य, म्लेच्छ आदि नामों से पुकारे जाते हैं।

जो शरीर को अपना निज स्वरूप न मानकर उसे केवल लोकहित तथा परलोक प्राप्ति का साधन मात्र ही मानते हैं और एक, नित्य, जन्म-मरण आदि विकारों से रहित, अविनाशी, ज्ञानमय, आनन्दस्वरूप आत्मा को ही अपना निज रूप मानते हैं, वे ही दिव्य गुण सम्पन्न पवित्र विचारों वाले सदाचारी देव, आर्य तथा हिन्दू कहे जाते हैं।

वे कभी भी अकारण किसी जीव को शारीरिक सुख तथा सुविधा के लिए पीड़ित नहीं करते।

निर्बलों को सहायता, समाज की सुव्यवस्था, राष्ट्र तथा धर्म की रक्षा करना आर्य पुरुषों का कर्त्तव्य है।

निर्बलों को सताने वाले, समाज में दुर्व्यवस्था पैदा करने वाले, राष्ट्रद्रोही तथा धर्म-विरोधी आचरण करने वाले दण्डनीय हैं।

आग लगाने वाले, विष देने वाले, दूसरे पर सशस्त्र आक्रमण करने वाले, धन, भूमि तथा नारी का अपहरण करने वाले, ये सब आततायी हैं।

अपराधियों को दण्ड देना तथा आततायियों का वध करना हिंसा नहीं है।

जो अपने इन्द्रिय-सुख के लिए दूसरों को दु:खित करता है, वही हिंसक है। इस प्रकार की हिंसावृत्ति का त्याग करने वाला ही हिन्दू है।

हिनस्ति तपसा पापान् दैहिकान् दुष्ट मानसान्।
हेतिभिः शत्रु वर्गांश्च स हिन्दूरभिधीयते।।

"जो तप के द्वारा शारीरिक तथा मानसिक पापों को और शस्त्रों के द्वारा शत्रुओं का विनाश करता है, उसे 'हिन्दू' कहते हैं।"

हरि ॐ तत्सत्।

६. धर्म

धर्म की दो परिभाषाएँ हैं-१. धारण करने वाला तथा २. जिसको धारण किया जाए।

धर्महीन पदार्थ का सृष्टि में अस्तित्त्व नहीं, क्योंकि पदार्थगत धर्म ही उसका धारक होता है।

सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ में सहज गुण विशेष हुआ करता है।

गुण, विशेष के कारण ही पदार्थों में एक दूसरे से भिन्नता है।

भिन्नत्व की अनुभूति कराने वाला गुण विशेष ही उस पदार्थ का सहज धर्म कहा जाता है।

अन्य पदार्थों के समान ही मनुष्य भी सृष्टि का एक प्राणी है।

मनुष्य में धर्म-विशेष होने से ही वह अन्य प्राणियों से भिन्न अस्तित्त्व रखता है।

मानव सृष्टि का पूर्ण विकसित प्राणी है।

अन्य प्राणियों की अपेक्षा इसमें धारणा शक्ति एवं विवेक प्रद प्रज्ञा का प्रकाश है।

प्रज्ञावान् प्राणी होने के कारण ही मानव में धर्म का एक अन्य रूप भी है, जिसको वह स्वयं धारण करता है।

मनुष्यत्व को धारण करने वाला गुण-विशेष ही उसका सहज धर्म कहा जाता है।

जिस धारणा को धारण कर ध्येय-प्राप्त्यर्थ वह अपनी सामाजिक संरचना करता है, मनीषीजन उसे ही धारण किया हुआ स्वीकृत धर्म कहते हैं।

दार्शनिक प्रज्ञा के प्रकाश में सहज धर्म का एवं सर्वजन हिताय निर्धारित की हुई नीति के द्वारा ही मनुष्य को स्वीकृत धर्म का बोध होता है।

धर्म की द्विविध परिभाषाएँ केवल मानव-जीवन में ही सार्थक होती हैं।

मनुष्य जीवन में ही विविध प्रकार के अभावों की अनुभूति तथा उनसे मुक्त होने का उपाय किया जा सकता है।

प्राकृतिक पदार्थों के भोग के साथ ही मानव में पूर्णत्व (मोक्ष) को प्राप्त करने की स्वाभाविक माँग है। धर्म का बोध ही उसकी स्वाभाविक माँग की पूर्ति का विधायक है।

अभ्युदय के साथ निःश्रेयस की सिद्धि के साधन को ही धर्म कहते हैं।

जीवन का सर्वाङ्गीण विकास ही अभ्युदय है।

लोकहित की भावना से किया हुआ भौतिक विकास भी मनुष्य को पूर्णत्व की प्राप्ति में सहायक होता है।

पूर्णत्व की प्राप्ति ही निःश्रेयस की सिद्धि है।

नित्य शुद्ध, बुद्ध, अभावमुक्त, परम रसमय, प्रशान्त जीवन ही निःश्रेयस का स्वरूप है।

प्रज्ञावान् प्राणी होने से ही मानव सर्वतोमुखी विकास करता हुआ प्राकृतिक पदार्थों का भोग तथा विवेक के प्रकाश में सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मानुभूति कर, मोक्ष पद को प्राप्त होता है।

समाज अविरोधी विचार, भाव एवं क्रिया का आश्रय ले मनुष्य जीवन में भोगापवर्ग को प्राप्त करे, यही धर्म-बोध का प्रयोजन है।

हरि ॐ तत्सत्।

७. शास्त्र

मानव जीवन में भोगापवर्ग की सिद्धि के लिए साधक तत्त्वों की विधि तथा बाधक तत्त्वों के निषेध की व्यवस्था देने वाली शिक्षा का आधार ही शास्त्र है।

विज्ञानत्रयी का बोध ही भोगापवर्ग की सिद्धि का साधन है।

ब्रह्म-विज्ञान, जीवन-विज्ञान तथा कर्म-विज्ञान को ही विज्ञानत्रयी कहते हैं।

ब्रह्म-विज्ञान जीवन के स्रोत तथा आधार का अवबोधक है।

जीवन-विज्ञान जीवन के स्वरूप का अवबोधक है।

कर्म-विज्ञान जीवन के प्रयोजन तथा उसकी सिद्धि के साधन का प्रतिपादक है।

विज्ञानत्रयी ही शास्त्र का प्रतिपाद्य है।

वेदादिशास्त्र ही सृष्टि में प्राचीनतम त्रयीविद्या के प्रतिपादक हैं।

हिन्दू-धर्म के वे ही आधार हैं।

भगवद्गीता वेदादि समस्त शास्त्रों का सार है।

सरल, सरस तथा सार रूप में वही धर्म के आधार पर विज्ञानत्रयी की प्रतिपादिका है।

गीता अनादि ईश्वरीय दिव्य ज्ञान का सन्देश है।

वह सार्वभौम रूप से मानव-मात्र के कल्याण की मार्गदर्शिका है।

विश्व के सभी प्रचलित प्रधान धर्मों का वही आधार है।

धर्म के आधार विज्ञानत्रयी तथा सार रूप में दर्शन एवं नीति की अवबोधिका होने से गीता हिन्दू-धर्म का सर्वमान्य शास्त्र है।

हरि ॐ तत्सत्।

८. सिद्धान्त

ब्रह्म ही जगत् तथा जीव का आधार है।

जो कुछ भी देखने, सुनने वा अनुभव में आने वाला जड़-चेतन स्थूल तथा सूक्ष्म रूप में स्थित पदार्थ है, पहले यह कुछ भी नहीं था।

अनन्त गुण-गण-निधान, परम ज्योति स्वरूप, सर्वशक्तिमान परब्रह्म परमात्मा तथा उसकी अनन्त महिमामयी त्रिगुणात्मिका शक्ति ही इस सम्पूर्ण प्रपंच का कारण है।

पुरुषोत्तम के प्रकाश में विकास को प्राप्त हुई प्रकृति ही अनन्त नाम रूपों से अभिहित हो रही है।

तेज, अप, अन्न के आधारभूत प्रकाश, क्रिया, स्थिति रूप तीनों गुणों से ही सूक्ष्म, स्थूल, अनेक रूपों वाला यह विराट् विश्व उत्पन्न हुआ है।

शरीरी और शरीर भेद से परब्रह्म परमात्मा तथा तदाश्रिता महामाया प्रकृति की ही सर्वरूप में अभिव्यक्ति है।

प्रकृति-पुरुष की प्रशान्त अव्यक्तावस्था ही ब्रह्म शब्द से अभिहित होती है।

सूत्र तथा सूत्र-मणियों के समान जैसे प्रत्येक कारण तत्त्व अपने कार्य में स्थित होता है, उसी प्रकार सच्चिदानन्द रूप परब्रह्म परमात्मा सर्वरूप से हुए जगत् में स्थित है। (गीता ७। ७)

निश्चय ही ये सब प्रत्यक्ष दिखने वाले सूक्ष्म तथा स्थूल भूत प्राणी जिसस उत्पन्न होकर जिसके सहारे जीवित रहते हैं और अन्त में प्रलय काल में जिसमे प्रवेश कर जाते हैं, वही ब्रह्म है। मानव को चाहिए कि उसे ही तत्त्वतः जान की जिज्ञासा करे।

तप, चिन्तन एवं ध्यान के द्वारा ही ब्रह्म तत्त्व का बोध होता है।

ब्रह्म-बोध से ही मानव-जीवन की सार्थकता है।

एक, नित्य, पूर्ण, दिव्य रसमय परम तत्त्व की प्राप्ति ही प्रत्येक जी की आन्तरिक चाह है।

जो सर्वज्ञ, सर्वत्र तथा सर्वसमर्थ हो वही एक नित्य, पूर्ण, दिव्यरसम हो सकता है।

अज्ञानता, एक-देशीयता, असमर्थता, भिन्नता, विनाश तथा कमी, किसी को भी प्रिय नहीं। जब तक प्राणी इन अभावों को पूर्ण रूप से दूर नह कर लेता, तब तक उसे सुख तथा शान्ति नहीं मिलती।

यह बात तर्क सिद्ध है कि जिस वस्तु का अस्तित्त्व नहीं है, उसक कभी भी किसी को कामना नहीं होती। कामना सदा उसी की होती है, जिसक अस्तित्त्व हो तथा जिसे प्राप्त किया जा सकता हो।

जल से पिपासा, अन्न से भूख तथा रूप आदि विषयों से ही उन्हें प्राप करने की कामना जागृत होती है।

ठीक उसी प्रकार एक सर्वत्र, नित्य, पूर्ण, सर्वज्ञ, सर्वसमर्थ, दिव्य, रसम परम तत्त्व होने से ही उसको प्राप्त करने की प्राणी को चाह है।

इस चाह की पूर्ति किये बिना कोई भी किसी भी प्रयत्न द्वारा इसे मिटा में समर्थ नहीं।

किसी भी देश, काल, परिस्थिति में रहने वाला प्राणी इस नित्य चा का परित्याग नहीं कर सकता।

इस जगत् में कोई भी ऐसा पद-पदार्थ नहीं है, जिसके द्वारा जीव की यह चाह पूर्ण हो सके।

अनित्य, जड़, नीरस पदार्थों के द्वारा नित्य, सत्-चित्-आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती। वह अवश्य ही कोई इस जगत् से विलक्षण और इससे परे परम तत्त्व है।

उस परम रसमय विलक्षण तत्त्व को परमात्मा कहते हैं। उसको प्राप्त करने से ही प्राणी की नित्य चाह पूर्ण होगी।

यही अद्वैत मोक्ष पद है।

पूर्ण द्वैत भाव से रहित दिव्य रसमय जीवन ही मुक्त पुरुष का जीवन है।

उसकी प्राप्ति के साधन को ही धर्म कहते हैं।

धर्म-तत्त्व का बोध तथा उसकी धारणा ही ध्येय-प्राप्ति का साधन है।

जीवन की सार्थकता के प्रति यही हिन्दू-धर्म का सिद्धान्त है।

हरि ॐ तत्सत्।

९. पुनर्जन्म

जीवात्मा के सूक्ष्म शरीर का स्थूल शरीर के साथ होने वाले संयोग को जन्म तथा वियोग को मृत्यु कहते हैं।

प्रकृति और पुरुष ही सृष्टि के आधार हैं।

पुरुष के प्रकाश में विकासोन्मुख प्रकृति के प्रथम परिणाम को चित्त कहते हैं।

चित्त में चेतन के दिव्य गुणों को ग्रहण करने की स्वाभाविक क्षमता है।

चित्त के साथ तादात्म्य होने से ही चेतन आत्मा की 'जीव' संज्ञा होती है।

चेतन से युक्त हुए चित्त में नित्य, पूर्ण, दिव्य रस को प्राप्त करने की चाह उत्पन्न होती है, क्योंकि यही आत्मा का वास्तविक स्वरूप है।

चाह युक्त चित्त ही कारण शरीर है।

कारण शरीर के संस्कारजन्य भाव को क्रिया रूप में परिणत करने के लिए ही सूक्ष्म शरीर का आविर्भाव होता है।

मंगलमय विधान से क्रिया की सिद्धि के लिए ही अधिष्ठान रूप से उसे स्थूल शरीर की प्राप्ति होती है।

दिव्यरस की चाह पूर्ति के लिए भ्रमवश जीव किसी ज्ञानेन्द्रिय के माध्यम से विषयों का ग्रहण करता है।

विषयों के संग से ही चित्त में कामना रूप से प्रकट हुई वृत्तियों की बहुलता होती है।

वृत्ति-तादात्म्य से ही जीवात्मा को सूक्ष्म शरीर के साथ उसकी पूर्ति के लिए अनेक योनियों में जन्म लेना पड़ता है।

सूक्ष्म शरीर के होते हुए उसके संस्कारानुसार अधिष्ठान रूप में प्राप्त होने वाले स्थूल शरीर का संयोग-वियोग होना अनिवार्य है। इसी को जन्म तथा मृत्यु कहते हैं।

प्राकृतिक विधानानुसार अनेक योनियों में होता हुआ जीव मानव शरीर को प्राप्त करता है।

मानव शरीर प्रकृति का सर्वोत्कृष्ट विकसित स्वरूप है।

मानव में ही बुद्धि का पूर्ण विकास तथा विवेक का प्रकाश होता है।

सर्वप्रथम जीव को मानव शरीर की प्राप्ति मंगलमय दिव्य विधान से ही होती है। यह उसके किसी कर्म का फल नहीं।

क्योंकि मानवेतर अन्य योनियों में बुद्धि का विकास न होने के कारण उत्तम परिणाम के लिए विवेकयुक्त कर्म का अनुष्ठान असम्भव है।

जीव को मानव शरीर में किए हुए कर्मों के फलस्वरूप संस्कारानुसार उत्तम तथा निम्न योनियों में पुनः जन्म लेना होता है।

शुभ संस्कारों से देव, अशुभ संस्कारों से तिर्यक् तथा शुभाशुभ मिश्रित संस्कारों से पुनः मानव शरीर की प्राप्ति होती है।

जैसे जन्म के पश्चात् जीवन में विकास के लिए कुमार, किशोर, युवा, वृद्धा आदि अवस्थाओं की प्राप्ति अनिवार्य है, ठीक उसी प्रकार उस शरीर को दूसरे शरीर की प्राप्ति रूप मृत्यु तथा पुनर्जन्म भी आवश्यक है।

जीवात्मा जब साधन-धाम मानव शरीर को प्राप्त कर विवेक के प्रकाश में शुभाशुभ संस्कारों को त्याग अपने कारणरूप नित्य, पूर्ण, दिव्यरसमय परम चेतन परमात्म तत्त्व में स्थित हो कृतकृत्य हो जाता है, तब उसे पुनः जन्म-मरण रूपी संसार चक्र में नहीं आना पड़ता।

यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद् धाम परमं मम।

(गीता १५/६)

न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते।

(छान्दोग्य०)

हरि ॐ तत्सत्।

१०. अवतार

अनन्त गुणगण-निधान सच्चिदानन्द परमात्मा ही सृष्टि का आधार है। तदाश्रिता प्रकृति का आविर्तिरोभावात्मक व्यापार ही सृष्टि और प्रलय है। प्रकृति-जन्य अनन्त चित्तों के माध्यम से सृष्टिगत विभिन्न नामरूपों में परमात्मा की ही अभिव्यक्ति है।

अव्यक्त परमात्मा के सच्चिदानन्दमय दिव्य सत्ता का व्यक्त रूप में आविर्भूत होना ही अवतार है।

यह सम्पूर्ण सृष्टि उस अनन्त की महिमा की अवबोधिका मात्र है, किन्तु वह महिमावान् इस विराट् ब्रह्माण्ड से भी परे है।

वह सच्चिदानन्द ब्रह्म अपनी पराशक्ति योगमाया को अधिष्ठान बनाकर विशिष्ट चित्त के माध्यम से अनन्त दिव्यगुण-गणयुक्त परमरसमय चिन्मय स्वरूप धारण कर जब इस धराधाम पर प्रकट होता है तो उसे अवतार कहते हैं।

अवतार शब्द का अभिप्राय है उस अव्यक्त अनन्त सत्ता की अभिव्यक्ति का उद्घाटन।

दैवी सम्पद्युक्त सदाचारी पुरुषों का संरक्षण एवं वृद्धि, आसुरी सम्पद्युक्त दुराचारी दुष्ट जनों का संहार तथा प्राणीमात्र के कल्याणार्थ विवेकयुक्त विशुद्ध कर्ममय धर्म की स्थापना, ये सभी अवतरित दिव्य शक्ति के स्वाभाविक कर्म होते हैं।

अवतार का अभिप्राय सीमित रूप में सम्पूर्ण असीम सत्ता का प्राकट्य नहीं वरन् उसके शक्ति, ज्ञान, प्रेम रूप विभूति का अवतरण है।

जिस प्रकार अव्यक्त व्यापक अग्नि नित्य, निमित्त, आवेश, प्रवेश आदि भेदों से व्यक्त होती है, ठीक उसी प्रकार उस निर्गुण, निराकार, अव्यक्त, अजन्मा, सर्वव्यापी परमात्मा का भी अनेक भेदों से सगुण साकार रूप में अवतरण होता है।

जिस प्रकार एक व अनेक रूपों में एक साथ अथवा भिन्न-भिन्न समय में प्रकट होने पर भी अग्नि की व्यापकता एवं शक्ति में किसी प्रकार का व्यवधान वा न्यूनता नहीं आती, ठीक उसी प्रकार एक वा अनेक रूपों में एक साथ अथवा भिन्न-भिन्न समय में प्रकट होने पर भी परमात्मा की व्यापकता में व्यवाधान एवं उसकी शक्ति में न्यूनता नहीं होती।

मंगलमय विधान से उद्देश्य-विशेष की पूर्ति के लिए आवश्यकतानुसार सभी देश-काल-परिस्थिति में सर्वसमर्थ ईश्वरीय शक्ति का विशिष्ट रूप में आविर्भाव होता है। उद्देश्य-पूर्ति के पश्चात् वह पुनः अव्यक्त रूप में तिरोहित हो जाती है।

लोकोपकारार्थ किसी व्यक्ति विशेष के माध्यम से भी करुणामय प्रभु की दिव्य शक्ति का प्राकट्य हुआ करता है। जिसके द्वारा मानव समाज को सुव्यवस्था तथा आदर्शमय सुन्दर जीवन का सन्देश मिलता है।

मानव समाज में वे ही सन्त वा महापुरुष कहे जाते हैं।

अवतार तथा सन्त महापुरुषों में महान् अन्तर होता है।

सन्त महापुरुषों का जन्म साधारण रूप में प्राकृतिक नियमानुसार ही होता है, किन्तु उनके कर्म लोकहितार्थ हुआ करते हैं। उनमें साधन विशेष के द्वारा ईश्वरीय दिव्य शक्ति का अवतरण होता है।

अवतार रूप में प्रकट हुए परमेश्वर के जन्म और कर्म दोनों ही दिव्य होते हैं, क्योंकि उनमें संस्कार हेतु नहीं होता।

हिन्दू-चिन्तन धारा की विशिष्ट उपलब्धियों में अवतारवाद भी एक अनुपम उपलब्धि है, क्योंकि इस से मनुष्य की आत्मा में निहित ईश्वरीय दिव्य शक्ति को उद्घाटित करने की प्रेरणा प्राप्त होती है।

हरि ॐ तत्सत्।

११. धर्माचरण

धर्म केवल उपासना की पद्धति ही नहीं बताता, वह दिव्य जीवन की व्यवस्था का विधायक भी है।

सात्त्विक शुद्ध धारणा, अपराधी को क्षमा, विषय वृत्तियों का दमन, चोरी न करने की भावना, आन्तरिक और बाह्य शुद्धि, इन्द्रिय-संयम, विवेकशील बुद्धि, सत्-असत् बोधप्रदा विद्या, सत्य में निष्ठा, क्रोध न करने की भावना, ये दस धर्म के लक्षण कहे गये हैं।

मूलतः धर्माचरण के दो भेद हैं। पहला नियम दूसरा यम।

नियमों के पालन से मानव का निजी जीवन सुखी होता है और यमों के पालन से समाज में सुव्यवस्था होती है।

नियम पाँच हैं-

(क) शौच-अन्तर तथा बाहर की पवित्रता।

(ख) सन्तोष-अपने परिश्रम से प्राप्त हुए पदार्थ में सन्तुष्टि।

(ग) तप-शरीर तथा इन्द्रियों की शुद्धि के लिए व्रत, प्राणायाम आदि का अनुष्ठान एवं कर्तव्य पालन में आई हुई कठिनाईयों को सहर्ष सहन करना।

(घ) स्वाध्याय-परमात्मा के पवित्र नाम का स्मरण, सद्ग्रन्थों का पठन-पाठन एवं स्वयं के जीवन का निरीक्षण।

(ङ) ईश्वर प्रणिधान-अन्य सभी आश्रयों का त्याग कर परमेश्वर की शरणागति।

जिस प्रकार अव्यक्त व्यापक अग्नि नित्य, निमित्त, आवेश, प्रवेश आदि भेदों से व्यक्त होती है, ठीक उसी प्रकार उस निर्गुण, निराकार, अव्यक्त, अजन्मा, सर्वव्यापी परमात्मा का भी अनेक भेदों से सगुण साकार रूप में अवतरण होता है।

जिस प्रकार एक व अनेक रूपों में एक साथ अथवा भिन्न-भिन्न समय में प्रकट होने पर भी अग्नि की व्यापकता एवं शक्ति में किसी प्रकार का व्यवधान वा न्यूनता नहीं आती, ठीक उसी प्रकार एक वा अनेक रूपों में एक साथ अथवा भिन्न-भिन्न समय में प्रकट होने पर भी परमात्मा की व्यापकता में व्यवाधान एवं उसकी शक्ति में न्यूनता नहीं होती।

मंगलमय विधान से उद्देश्य-विशेष की पूर्ति के लिए आवश्यकतानुसार सभी देश-काल-परिस्थिति में सर्वसमर्थ ईश्वरीय शक्ति का विशिष्ट रूप में आविर्भाव होता है। उद्देश्य-पूर्ति के पश्चात् वह पुनः अव्यक्त रूप में तिरोहित हो जाती है।

लोकोपकारार्थ किसी व्यक्ति विशेष के माध्यम से भी करुणामय प्रभु की दिव्य शक्ति का प्राकट्य हुआ करता है। जिसके द्वारा मानव समाज को सुव्यवस्था तथा आदर्शमय सुन्दर जीवन का सन्देश मिलता है।

मानव समाज में वे ही सन्त वा महापुरुष कहे जाते हैं।

अवतार तथा सन्त महापुरुषों में महान् अन्तर होता है।

सन्त महापुरुषों का जन्म साधारण रूप में प्राकृतिक नियमानुसार ही होता है, किन्तु उनके कर्म लोकहितार्थ हुआ करते हैं। उनमें साधन विशेष के द्वारा ईश्वरीय दिव्य शक्ति का अवतरण होता है।

अवतार रूप में प्रकट हुए परमेश्वर के जन्म और कर्म दोनों ही दिव्य होते हैं, क्योंकि उनमें संस्कार हेतु नहीं होता।

हिन्दू-चिन्तन धारा की विशिष्ट उपलब्धियों में अवतारवाद भी एक अनुपम उपलब्धि है, क्योंकि इस से मनुष्य की आत्मा में निहित ईश्वरीय दिव्य शक्ति को उद्घाटित करने की प्रेरणा प्राप्त होती है।

हरि ॐ तत्सत्।

११. धर्माचरण

धर्म केवल उपासना की पद्धति ही नहीं बताता, वह दिव्य जीवन की व्यवस्था का विधायक भी है।

सात्त्विक शुद्ध धारणा, अपराधी को क्षमा, विषय वृत्तियों का दमन, चोरी न करने की भावना, आन्तरिक और बाह्य शुद्धि, इन्द्रिय-संयम, विवेकशील बुद्धि, सत्-असत् बोधप्रदा विद्या, सत्य में निष्ठा, क्रोध न करने की भावना, ये दस धर्म के लक्षण कहे गये हैं।

मूलतः धर्माचरण के दो भेद हैं। पहला नियम दूसरा यम।

नियमों के पालन से मानव का निजी जीवन सुखी होता है और यमों के पालन से समाज में सुव्यवस्था होती है।

नियम पाँच हैं-

(क) शौच-अन्तर तथा बाहर की पवित्रता।

(ख) सन्तोष-अपने परिश्रम से प्राप्त हुए पदार्थ में सन्तुष्टि।

(ग) तप-शरीर तथा इन्द्रियों की शुद्धि के लिए व्रत, प्राणायाम आदि का अनुष्ठान एवं कर्तव्य पालन में आई हुई कठिनाईयों को सहर्ष सहन करना।

(घ) स्वाध्याय-परमात्मा के पवित्र नाम का स्मरण, सद्ग्रन्थों का पठन-पाठन एवं स्वयं के जीवन का निरीक्षण।

(ङ) ईश्वर प्रणिधान-अन्य सभी आश्रयों का त्याग कर परमेश्वर की शरणागति।

इन पाँचों के पालन से ही मानव का जीवन सुन्दर बनता है।

यम भी पाँच हैं-

(क) अहिंसा-अपने सुख, सुविधा के लिए मन, वचन, कर्म से किसी को दु:ख न पहुँचाना।

(ख) सत्य-जिसमें सभी जीवों का हित हो, वैसी ही मधुर वाणी बोलना।

(ग) अस्तेय-मन से भी दूसरे की वस्तु को लेने की कामना न करना अथवा धोखे से किसी के हिस्से का अपहरण न करना।

(घ) ब्रह्मचर्य-अधिकार से अधिक उपभोग की कामना का त्याग एवं सदैव ब्रह्मभाव से युक्त हो विचरण करना।

(ङ) अपरिग्रह-आवश्यकता व अधिकार से अधिक अपने सुख-सुविधा के लिए किसी भी प्रकार के भौतिक पदार्थों का संग्रह न करना।

इन पाँचों यमों के पालन से ही लोकहित व समाज की सुव्यवस्था होती है।

जिससे मानव समाज की सुन्दर सुव्यवस्था युक्त संगठन तथा सदाचार में प्रवृत्ति हो, वे ही कर्म धर्म कहे जाते हैं।

संगठन तथा सदाचार के पालन से भौतिक विकास के साथ-साथ जीवन की वास्तविक माँग पूर्णत्व की भी प्राप्ति हो जाती है।

यम-नियम के द्वारा ही सामाजिक संगठन तथा सदाचार की वृद्धि होती है।

इनका पालन करना ही सार्वभौम महाव्रत की निष्ठा एवं धर्माचरण है।

हरि ॐ तत्सत्।

१२. यज्ञ

मानव जीवन यज्ञमय हो, यह धर्म शास्त्र का मुख्य सन्देश है, क्योंकि परमात्मा ने सृष्टि के साथ ही यज्ञ की रचना की है। (गीता ९/१०)

यज्ञ ही समाज को धारण करने वाला विष्णु है तथा यज्ञ ही प्रजा का पालन व रक्षण करने वाला प्रजापति है। (मैत्रैय ६/१६)

यज्ञ के लिए किया हुआ कर्म मनुष्य के बन्धन का कारण नहीं होता। (गीता ३/९)

जिस कर्म से समस्त लोग पवित्र हों, उसे यज्ञ कहते हैं। (छा० उ० ४/१६/९)

यज्ञ का अर्थ देवपूजन, संगतिकरण व दान है।

दिव्य गुणों से जो युक्त हैं, उन्हें देव कहते हैं। (गीता १६/४)

उनका आदर, सत्कार, सेवा ही उनकी पूजा है।

सामाजिक संगठन को ही संगतिकरण कहते हैं।

प्रत्युपकार की भावना से रहित होकर दूसरे के हित में स्वयं के सामर्थ्य का समर्पण करना दान है।

जीवन-विकास के तीन ही मुख्य आधार हैं।

यज्ञ, तप तथा दान-ये मनीषियों को भी पवित्र करने वाले हैं। (गीता १७/१५)

प्रमादरहित हो सदैव इनका सेवन करना चाहिये।

यज्ञमय जीवन ही मानव जीवन में व्यवस्था युक्त विकास का आधार है।

हरि ॐ तत्सत्।

१३. श्राद्ध

मृतात्मा के सम्बन्ध में उसके कल्याणार्थ जो कुछ भी श्रद्धा युक्त दान है, उसे ही श्राद्ध कहते हैं।

श्राद्ध में दिये हुए पदार्थ नहीं उनके दान में निहित श्रद्धा-युक्त सद्भावना ही मृतात्मा को प्राप्त होती है।

आत्मा की अमरता एवं पुनर्जन्म की स्वीकृति ने ही श्राद्ध की भावना को जन्म दिया है।

मृतात्मा शरीर को छोड़ जिस किसी भी अन्य शरीर को प्राप्त करता है, पूर्व के सम्बन्धियों द्वारा तद् हितार्थ किये हुए सत्कर्म का प्रतिफल मंगलमय विधान से उसे अवश्यमेव प्राप्त होता है।

श्रद्धायुक्त सत्कर्म ही श्राद्ध का स्वरूप है।

हरि ॐ तत्सत्।

१४. मूर्ति पूजा

चित्त के द्वारा देश-विशेष में जिस किसी भी सूक्ष्म तथा स्थूल स्वरूप का चिन्तन किया जाता है, वह सभी मूर्त है।

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।

(योगदर्शन ३/१)

उपासक जब अपने उपास्यदेव की भावना से भावित हो किसी विशेष आकार-प्रकार में उसकी दिव्य शक्ति का चिन्तन करते हुए अपने चित्त को समाहित करता है, उसे मूर्ति-पूजा कहते हैं।

दृश्य, सगुण, साकार, मूर्त तथा अदृश्य, निर्गुण, निराकार, अमूर्त दोनों ही परमेश्वर के स्वरूप हैं।

प्रकृतिस्थ मूर्त शरीरासक्त मानव के लिए एकाएक अमूर्त ईश्वर के स्वरूप का सतत चिन्तन तथा उसमें अनुरक्त होना कठिन है।

साधन की प्रारम्भिक अवस्था में साधक अपनी रुचि अनुसार उस अमूर्त, आराध्य देव की किसी दिव्य साकार रूप में भावना कर उसका सतत चिन्तन करते हुए उसी में अपने चित्त को समाहित करता है।

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।

(योगदर्शन ३/२)

अपने अभिमत स्वरूप को साकार रूप देना यह मानवीय स्वभाव है।

सत्य की अनुभूति के लिए चित्त को स्थिर करना परमावश्यक है।

अभिमत स्वरूप का चिन्तन करने से चित्त एकाग्र हो जाता है।

यथाभिमतध्यानाद्वा।

(योगदर्शन १/३९)

शब्द के आधार से अर्थ को साकार रूप में व्यक्त कर उसके माध्यम से अपने आराध्य की स्मृति तथा उसमें मनोलय करना, यही मूर्ति-पूजा का तात्त्विक रहस्य है।

चञ्चल चित्त को एकाग्र करने के लिए अभिमत स्वरूप का दर्शन, चिन्तन तथा उसमें चित्त को स्थिर करना निर्विकल्प समाधि का प्रथम सोपान है।

प्रकट या अप्रकट रूप से सभी साधन-पद्धतियों के प्रारम्भ काल में श्रद्धा को सुदृढ़ करने के लिए मूर्ति-पूजा का विधान है।

अग्नि सदा सर्वत्र विद्यमान है, क्योंकि उसे किसी भी देश, काल, परिस्थिति में प्रकट किया जा सकता है।

वायु के संयोग से वह प्रज्वलित होता है। यह भी प्रत्यक्ष है।

किन्तु सर्वव्यापी अग्नि प्रबल वायु के संयोग से कभी भी मूर्तरूप में प्रकट तथा प्रज्वलित होते हुए नहीं देखा गया।

प्रचण्ड वायु वेग में दो स्थूल पदार्थों का घर्षण होने से अमूर्त व्यापक अग्नि मूर्त रूप में प्रज्वलित हो जाता है।

उसी भाँति अग्निवत अव्यक्त ईश्वरीय शक्ति, जो सर्वत्र एकरस परिपूर्ण है, वायु रूप प्रबल विचार के द्वारा आविर्भूत नहीं होती।

जब मूर्त साकार उपासक अपने दिव्य भावानुसार उस अमूर्त ईश्वरीय दिव्य सत्ता का मूर्त साकार रूप में चिन्तन करता है तो भावयुक्त चिन्तन द्वारा वह अनन्त अव्यक्त शक्ति अग्निवत् मूर्त रूप में उसके समक्ष प्रकट हो जाती है, यही हिन्दूधर्म में मूर्ति-पूजा की दार्शनिक पृष्ठ-भूमि है।

मूर्ति-पूजा साध्य नहीं साधन है।

हरि ॐ तत्सत्।

१५. वर्ण-व्यवस्था

परमात्मा के प्रकाश में विकासोन्मुख त्रिगुणात्मिका प्रकृति के द्वारा ही इस चराचर जगत् की रचना है।

तीन गुणों के कारण ही सभी जीवों के रूप, गुण तथा स्वभाव में भिन्नता है।

मानवीय सृष्टि में गुण-स्वभाव की भिन्नता से हर एक मानव की योग्यता में भी अन्तर है।

प्रत्येक मनुष्य अपनी योग्यता के अनुसार ही कर्म में प्रवृत्त होता है।

कर्मानुसार ही वह पद तथा पदार्थ का अधिकारी होता है।

मानवता की दृष्टि से एक होते हुए भी योग्यता तथा कर्मों के भेद से समाज में सभी एक से पद-पदार्थ के अधिकारी नहीं होते।

तीन गुणों के कारण ही मानव जाति को चार वर्गों में विभाजित किया गया है।

गुण और कर्मों के अनुसार जो मानवीय सृष्टि का वर्गीकरण हुआ है, उसे ही चतुर्वर्ण कहते हैं।

वर्ण-व्यवस्था गुण-कर्मों को देखकर ही की गई है।

इसका कर्तृत्व गुण-कर्मों पर ही आधारित है।

व्यवस्थापक उसका कर्ता नहीं है।

यदि इस प्रकार मानव जाति में गुण और कर्मों की भिन्नता न होती तो वह इस व्यवस्था की रचना भी न करता।

ज्ञान, बल, अर्थ तथा श्रम-प्रधान मनुष्यों को क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र की संज्ञा दी गई है।

पूर्व में मानव जाति में पारस्परिक कोई अन्तर नहीं था, ब्रह्मा से उत्पन्न होने के नाते सभी ब्राह्मण कहे जाते थे।

बाद में विभिन्न-स्वभावजन्य गुण-कर्मों के कारण उनमें वर्ण-भेद हो गया। (म० शा० प० १८८/१०)

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र, इनके कर्म अपने स्वभाव-जन्य गुणों से ही भिन्न-भिन्न हुए हैं। (गीता १८/४८)

सतोगुणी, ज्ञानप्रधान, सदाचारी, तपस्वी तथा त्यागप्रिय स्वभाव वाले मानव को ब्राह्मण कहा जाता है।

सत् मिश्रित रजोगुणी, बल-प्रधान, शूर, तेजस्वी, धैर्ययुक्त, दानी व स्वामित्वप्रिय स्वभाव वाले मानव को क्षत्रिय कहते हैं।

सत-तम-मिश्रित रजोगुणी, अर्थप्रधान, व्यवसाय कृषि-गोरक्षण सदाचार-प्रिय स्वभाव वाले मानव को वैश्य कहते हैं।

रज-मिश्रित तमोगुणी, विचाररहित, शारीरिक श्रम द्वारा जीविकोपार्जन करने वाले मानव को शूद्र कहते हैं।

न्यूनाधिक रूप से तीनों गुणों का प्रभाव सभी वर्णों में रहता है।

पृथ्वी या स्वर्ग, देव या मनुष्यों में ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है जो कि प्रकृति से उत्पन्न हुए इन तीनों गुणों से रहित हो।

यह सम्पूर्ण जगत् त्रिगुणमयी माया का ही प्रसार है।

(गीता १८/४०)

गुण-स्वभावानुसार ही एक-दूसरे से सम्बन्ध की प्रवृत्ति देखी जाती है।

यदि विपरीत गुण-धर्म वाले व्यक्तियों का सम्बन्ध स्थापित होता है तो हर एक गुण-धर्म की शुद्धता में विकृति एवं पारस्परिक असहयोग की भावना का जन्म होता है।

एतदर्थ समाज-व्यवस्था में विशुद्ध रक्त की परम्परा को सुरक्षित रखते हुए सजातीय गुण-धर्मों के अनुसार स्त्री-पुरुष के विवाह आदि का भी विधान किया गया है।

माता-पिता के स्वाभाविक गुण-धर्म उनकी सन्तानों में प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं।

इसीलिए उनकी पैतृक कर्मों में स्वभावतः प्रवृत्ति भी हो जाती है।

यही कारण है कि कालान्तर में जन्म के साथ कर्म का भी सम्बन्ध माना जाने लगा।

शिक्षक तथा रक्षक होने के नाते ही ज्ञान-प्रधान तथा बल-प्रधान व्यक्तियों का समाज में विशेष स्थान होता है क्योंकि इनके द्वारा ही समाज सुव्यवस्थित हो सन्मार्ग का अनुसरण करता है।

मानवीय सृष्टि में चातुर्वर्ण्यव्यवस्था की आधार रूपा वृत्तियों से युक्त व्यक्ति प्रत्येक ग्राम, प्रान्त, देश तथा राष्ट्र में होते हैं।

हिन्दू धर्म-विधान में इन चारों वर्णों की उत्तम व्यवस्था तथ आनुवंशिक (पैतृक) शिक्षा द्वारा विभिन्न गुणों के विशेष परिपोषण की पूरी योजना बनाई गई है।

वर्ण भेद के हेतु जैसे मनुष्यों में हैं, वैसे ही सृष्टि के अन्य पदार्थों में भी पाये जाते हैं।

विशुद्ध रक्त की परम्परा को सुरक्षित रखते हुए भी धर्म-शास्त्रों में छुआछूत के लिए कहीं भी स्थान नहीं है।

धर्म-शास्त्र में इन चारों वर्गों के लोगों के लिए उनकी योग्यता के अनुसार कर्तव्य का विधान किया गया है और समाज में उन्हें उचित स्थान दिया गया है।

कर्म की विभिन्नता होने पर भी पारमार्थिक रूप से उनके फल में कोई भेद नहीं होता।

विभिन्न गुण-कर्मों के अनुसार ही वे लोग भिन्न-भिन्न वर्गों में विभक्त हो गये। परन्तु उनके लिए नित्य धर्मानुष्ठान तथा यज्ञकर्म का कभी भी निषेध नहीं किया गया है। (म० शा० प० १८८/२४)

अपने स्वभावानुसार उचित कर्मों का पालन करने से मनुष्य को उत्तम फल की प्राप्ति होती है। (गीता १८/४१)

धर्म-शास्त्र के विपरीत आचरण करने वाले किसी भी प्रकार के सुख के भागी नहीं होते।

उन्हें समाज में भी सम्मान नहीं मिलता।

जो धर्म के विरुद्ध मनमाना आचरण करने वाले क्रूर, निर्दयी, स्वेच्छाचारी, हिंसक वृत्ति से जीविका चलाने वाले हैं, उन्हीं विवेक रहित, अपवित्र स्वभाव वाले लोगों को वर्णसंकर कहा जाता है।

स्त्री-पुरुषों के गुण-धर्म-विरुद्ध दुराचरण से वर्णसंकर सन्तान की उत्पत्ति होती है और वह सन्तति चातुर्वर्ण्य व्यवस्था से बहिष्कृत होती है।

(म० अनु० प० ४८/२१)

यदि वे लोग क्रूर भाव को त्याग, दया से युक्त हो, सदाचार का पालन करते हुए, गो-ब्राह्मण आदि श्रेष्ठ जनों की सेवा करते हुए ईस्वर की आराधना करें तो वर्ण-संकर मनुष्यों की भी पारमार्थिक उन्नति हो सकती है, इसमें संशय नहीं।

(म० अनु० प० ४८/३४-३५)

उच्चवर्ग में उत्पन्न हुआ मनुष्य भी यदि उत्तम, शील, सदाचार से हीन हो तो वह सत्कार का पात्र नहीं होता।

निम्न वर्ग में उत्पन्न हुआ शूद्र भी यदि धर्मज्ञ तथा सदाचारी हो तो उसका विशेष आदर करना चाहिए। (मनु०)

एक पिता के चार पुत्र हों। एक ज्ञानवान, दूसरा बलवान, तीसरा धनवान और चौथा इन सब गुणों से रहित हो तो यद्यपि समाज में उनकी योग्यता के अनुसार ही उन्हें स्थान व आदर मिलेगा, किन्तु पिता की दृष्टि में वे चारों पुत्र समान रूप से प्रिय होंगे और पिता की सम्पत्ति में भी चारों का समान अधिकार होगा।

उसी प्रकार योग्यता के अनुसार मनुष्य भले ही समाज में छोटा, बड़ा माना जाये किन्तु परम पिता परमात्मा की दृष्टि में सभी बराबर प्रिय हैं और सभी उसके परमपद के अधिकारी हैं। (रामायण ७/८७)

निकृष्ट से निकृष्ट अवस्था को प्राप्त हुए दुराचारी, पापमय जीविका से जीवन व्यतीत करने वाले लोग भी, अनन्य भाव से भगवान् की आराधना कर समस्त पापों से मुक्त हो परम गति को प्राप्त कर लेते हैं।

(गीता ९/३२)

वर्ण-व्यवस्था मानव की सामाजिक संरचना एवं पारमार्थिक उत्थान में बाधक नहीं, साधक है। उसका आधार जन्म नहीं, स्वभावजन्य गुण-कर्म ही होते हैं।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।

(गीता ४/१३)

मैंने गुण और कर्मों के विभागानुसार चार वर्णों की व्यवस्था का निर्माण किया है।

हरि ॐ तत्सत्।

१६. हिन्दू-धर्म में नारी

हिन्दू-धर्म में मातृ-शक्ति का विशेष स्थान है।

पुरुषों के साथ अर्धाङ्गिनी-रूप में उनकी प्रतिष्ठा है।

सन्तान के लिए पिता से भी दस गुणा अधिक गौरव-पूर्ण माता का स्थान है।

कोई भी यज्ञ आदि धार्मिक शुभ कर्म नारी के अभाव में करने का विधान नहीं है।

सरलता, सरसता, सुकोमलता तथा दया, प्रेम, तप, त्याग, बलिदान व सेवा, ये सभी सद्‌गुण मातृ-शक्ति में स्वाभाविक रूप से ही होते हैं।

जहाँ नारी जाति का आदर होता है, वहाँ देवता लोग प्रसन्नतापूर्वक निवास करते हैं और जहाँ नारी का निरादर होता है वहाँ की सारी क्रियाएँ निष्फल हो जाती हैं। (मनु० ४६/५-६)

जिस कुल की बहू-बेटियाँ दुःख मिलने के कारण शोक मग्न होती हैं, उस कुल का नाश हो जाता है। (मनु० ४६/६)

नारी स्वरूप से ही सम्मान योग्य हैं, अतः सभी को उनका आदर करना चाहिये, क्योंकि नारी जाति ही धर्म-सिद्धि का मूल कारण है। (मनु० ४६/९)

सन्तान की उत्पत्ति, उत्पन्न हुए बालक का लालन-पालन तथा लोक-यात्रा का प्रसन्नतापूर्वक निर्वाह इन सबको नारी के ही अधीन समझो।

यदि तुम लोग नारियों का आदर करोगे, तो तुम्हारे सभी कार्य सिद्ध होंगे।

(मनु० ४६/१५)

नारियाँ घर की लक्ष्मी हैं, उन्नति चाहने वाले पुरुषों को उनका भली-भाँति सत्कार करना चाहिये।

अपनी अधीनता में उनका उचित रूप से पालन-पोषण करने पर, वे साक्षात् लक्ष्मी स्वरूपा हो जाती हैं।

शिक्षा-दीक्षा में भी नारी-समाज का पुरुषों के समान ही पूर्ण स्थान है।

वैदिक-साहित्य के निर्माण में उनका भी बहुत बड़ा हाथ रहा है।

हिन्दू-धर्मशास्त्र में नारी अबध्य तथा सर्वरूप से संरक्षणीय कही गई है।

हिन्दू नारियों ने जो अपना गौरव, धर्म तथा स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए तप, त्याग व बलिदान का आदर्श प्रस्तुत किया है तथा बोधयुक्त प्रेम एवं सेवामय जीवन द्वारा मानवता की सुरक्षा और मानव जाति का मार्ग-दर्शन किया है, वह विश्व के इतिहास में अन्यत्र कहीं पर भी नहीं मिलता।

शक्ति-स्वरूपा नारी सभी के लिए सर्वदा वन्दनीय है।

हरि ॐ तत्सत्।

१७. धर्म-संदेश

जिस क्रिया में अनेकों का हित निहित हो, वही करने योग्य है।

किसी क्रिया-विशेष को धर्म तथा अधर्म नहीं कहा जा सकता, क्योंकि देश, काल, परिस्थिति के अनुसार कभी धर्म अधर्म और अधर्म धर्म बन जाता है।

जैसे अहिंसा परम धर्म है, किन्तु सबके प्रति मैत्री-भाव रखने वाले महापुरुष भी, निर्बलों तथा धर्म की रक्षा के लिए, दुष्टों का दमन करते हुए परमपद को प्राप्त करते हैं।

यदि कोई पुरुष शक्ति होते हुए भी अत्याचार का विरोध नहीं करता, तो वह अत्याचार न करते हुए भी उसके कुफल का भागी होता है, क्योंकि उसके विरोध न करने से अत्याचारियों को प्रोत्साहन मिलता है।

धर्म की गति बड़ी गहन है। इस विषय में त्रिकालज्ञ मुनि भी मोहित हो जाते हैं।

जो कुछ भी दिखाई दे रहा है, यह सभी परमात्मा से परिपूर्ण है, उचित है कि मिले हुए पदार्थ ईश्वर को समर्पित कर उसका उपभोग करें।

किसी में आसक्ति मत करो। विचार करो यह धन किसका है ?

कर्म करते हुए ही सौ वर्ष तक जीने की कामना करो। कर्महीन हो एक क्षण का जीवन भी पृथ्वी पर भार है।

जो लोग बड़ी-बड़ी ज्ञान की बातें करते हैं, किन्तु उसके अनुसार आचरण नहीं करते, वे घोर अन्धकारमय कुएँ में गिरते हैं। विवेक वही है जो व्यवहार में काम आवे। अन्धेरी कोठरी में प्रकाश के साधनों की व्याख्या करने से प्रकाश नहीं हो जाता।

जो संसार में आसक्त रह केवल ज्ञान की बातें करते हैं, वे आत्म-ज्ञान को प्राप्त नहीं कर पाते।

मानव के लिए शास्त्र का अध्ययन उतना हितप्रद नहीं होता, जितना कि अपने जीवन का।

मानव का जीवन ही एक महान् शास्त्र है, उसकी प्रतिपल की क्रियाएँ ही उस शास्त्र के सूत्र हैं।

उनके उचित तथा अनुचित भाव के अध्ययन से दुर्गुणों से मुक्त हो, सद्‌गुणों में प्रवृत्ति होती है।

जिसने अपने आपका अध्ययन नहीं किया, उसके सारे शास्त्राध्ययन निष्फल हो जाते हैं।

मानव को चाहिये कि लक्ष्य का निश्चय करके ही जीवन-पथ पर आगे चले।

जीवन की माँग जीविका नहीं है, वह तो केवल इसके साधन में सहायक है।

जीविका से परे जीवन की माँग को पूर्ण करने के लिए सदैव जीवननाथ का ही चिन्तन करना चाहिये।

कर्म के तीन भेद हैं जो कि शुभ, अशुभ तथा सत्कर्म के नाम से कहे जाते हैं।

सीमित सुख की प्राप्ति के लिए शास्त्र-सम्मत तथा योग्यता के अनुसार उचित कर्मों का पालन ही शुभ कर्म है।

शास्त्र के प्रतिकूल, सुख-प्राप्ति के लिए हिंसायुक्त आदि जो दूषित कर्म हैं, उन्हें अशुभ कर्म कहते हैं।

सीमित सुख की कामना से रहित हो, भगवत-समर्पण बुद्धि से जो भी कुछ कर्म किया जाए, वही सत् कर्म है।

शुभ तथा अशुभ दोनों प्रकार के कर्मों से मानव को सीमित सुख ही प्राप्त होता है। असीम आनन्द के अभिलाषी को इन दोनों प्रकार के कर्मों को त्याग देना चाहिए।

सत् कर्म के द्वारा ही असीम आनन्दमय प्रभु की प्राप्ति होती है।

विश्वरूप में प्रकट विश्वनाथ की पूजा समझ, लोकहित की दृष्टि से जो कुछ किया जाता है, वही कल्याण का साधन है। उसी को सत्कर्म कहते हैं तथा वही गीता का कर्मयोग है।

मानव को सदैव लोकहित के लिए कर्म में प्रवृत्त होना चाहिये।

बड़ों की सेवा, छोटों पर प्यार, दीनों पर दया तथा दुष्टता का दमन करना आर्य पुरुषों का स्वाभाविक गुण है।

माता-पिता, गुरुजनों आदि श्रेष्ठ पुरुषों को प्रातः काल उठकर प्रणाम करना तथा धर्मानुकूल उनकी आज्ञा का पालन करना, यही उनकी सेवा है।

अपने से छोटे भाई, बहन, पुत्र, शिष्य व सेवक आदि को प्रिय पदार्थ देकर उनका आदर करना तथा सत् उपदेश के द्वारा उन्हें उचित मार्ग पर लगाना, यही उनका प्यार है।

शक्ति के अनुसार निर्बलों तथा दुःखियों की सहायता करना तथा उनके दुःख में सहानुभूति रखना, यही दीनों पर दया है।

धर्म व राष्ट्र-विरोधी आचरण करने वाले दुष्टजनों को उचित दण्ड देना तथा अपने अन्दर आई हुई दूषित भावनाओं का नाश करना, यही दुष्टता का दमन है।

मानव-जीवन की सफलता, धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष, इन चार पदार्थों की प्राप्ति में है।

धर्मानुसार अर्थ-संचय करके उचित रूप से कामना की पूर्ति करते हुए कल्याणपथ का अनुसरण कर मानव परम शान्तिस्वरूप मोक्ष पद को प्राप्त करे, यही धर्म-शास्त्र का सन्देश है।

थोड़े में ही सभी धर्मों का सार सुनो। जो अपने को बुरा लगे, ऐसा व्यवहार दूसरे के साथ नहीं करना चाहिए।

हरि ॐ तत्सत्।

१८. विचार

अविद्या समस्त दुःखों की जननी है।

विपरीत ज्ञान को ही अविद्या कहते हैं।

नाशवान्, अपवित्र, दुःखमय तथा अनात्म, जड़ शरीर को ही अविनाशी, पवित्र, सुखमय तथा आत्मस्वरूप चेतन मान लेना, यही अविद्या का स्वरूप है।

विवेक के प्रकाश में ही अविद्या का विनाश होता है।

मैं शरीर तथा शरीर के सम्बन्धी मेरे हैं, बस यही आज्ञान है।

मैं शरीर नहीं, इसको प्रकाशित करने वाला आनन्दमय परम चैतन्य ही मेरा स्वरूप है, ऐसा दृढ़ निश्चय ही विज्ञान का स्वरूप है।

विज्ञानयुक्त मानव आत्मबोध प्राप्त कर, निर्भय तथा निश्चिन्त हो जाता है।

वही ऋषि, शास्ता हो अन्य शरीरासक्त मनुष्यों के लिए जीवन की वास्तविकता तथा परम पद प्राप्ति के मार्ग का सन्देश देता है।

हरि ॐ तत्सत्।

******

हमारे प्रकाशन

❖ शक्ति तत्त्व बोध ❖ आपकी अपनी बात ❖ गीता ज्ञान विज्ञान योग ❖ श्रीहनुमत् विनय पच्चीसी ❖ श्री चण्डिकाशतक ❖ श्री श्यामशतक ❖ मानस में धर्मरथ ❖ रामो विग्रहवान् धर्मः ❖ मानस महाकाव्य में नारी ❖ गीता तत्त्व बोध ❖ क्या वर्ण-व्यवस्था अभिशाप है? ❖ राम नाम महिमा ❖ मानस के मोती ❖ जीवन विज्ञान ❖ भारत की आत्मा ❖ योगाकुंर ❖ साधना सूत्र ❖ गीता कर्म विज्ञान ❖ समाधान ❖ तत्त्व चिन्तन ❖ सन्त सन्देश ❖ भक्ति दर्शन (नारद भक्ति सूत्र) ❖ राम और रामायण ❖ क्रियायोग ❖ मानव पतन में हेतु ❖ योग पथ ❖ विश्व को हिन्दुओं का योगदान ❖ मानस में वैदिक सिद्धान्त ❖ सन्त लक्षण ❖ श्री हनुमत हृदय ❖ संस्कृत भाषा का महत्व ❖ ब्रह्म और उसकी विशिष्टाभिव्यक्ति ❖ सहज समाधि भली ❖ ब्रह्मविद्या विज्ञान-प्रथम ❖ ब्रह्मविद्या विज्ञान–द्वितीय ❖ नारी! तुलसी की दृष्टि में ❖ शिव तत्त्व बोध ❖ विश्व की समस्याओं का हल-अध्यात्मवाद ❖ हिन्दू धर्म सूत्र ❖ गीता प्रतिपादित योग मार्ग (गीता अध्याय छः पर आधारित) ❖ गीतोक्त बुद्धियोग (गीता अध्याय दो पर आधारित) ❖ चंडी दी वार (भगवती की स्तुति) ❖ काव्य सुधा ❖ श्री शिव शतक ❖ मानस में नवधा भक्ति ❖ महात्मा भरत ❖ हनुमत पंच रत्न ❖ श्रीमद्भगवद्गीता धर्म विज्ञान भाष्य (अध्याय 1 एवं 2) ❖ श्रीमद्भगवद्गीता धर्म विज्ञान भाष्य (अध्याय 3 एवं 4) ❖ श्रीमद्भगवद्गीता धर्म विज्ञान भाष्य (अध्याय 5 एवं 6) ❖ श्रीमद्भगवद्गीता धर्म विज्ञान भाष्य (अध्याय 7 एवं 8) ❖ श्रीमद्भगवद्गीता धर्म विज्ञान भाष्य (अध्याय 9 एवं 10) ❖ श्रीमद्भगवद्गीता धर्म विज्ञान भाष्य (अध्याय 11 एवं 12) ❖ श्रीमद्भगवद्गीता धर्म विज्ञान भाष्य (अध्याय 13 एवं 14) ❖ श्रीमद्भगवद्गीता धर्म विज्ञान भाष्य (अध्याय 15 एवं 16) ❖ वैदिक सनातन धर्म की वैज्ञानिक व्याख्या ❖ राष्ट्र का मुखिया कौन ? (वज्रसूचिकोपनिषद् के आधार पर तात्त्विक विश्लेषण) ❖ शास्त्र और श्रद्धा (एक तात्त्विक विश्लेयण) ❖ जन्म से मोक्ष तक ❖ वैदिक विज्ञान के स्वर्णिम अध्याय ❖ भुशुण्डी गीता ❖ श्रीहनुमत् चरित्र ❖ श्रीगणेश-तत्त्व-प्रश्नोत्तरी ❖ ध्यान प्रक्रिया एवं साधना प्रशिक्षण ❖ जन जागृति महाभियान ❖ गीतापंच प्रवचन प्रसरणि

❖ Science of Stable Wisdom ❖ The Science of *Pranav (om) (Commentary on Mandookyopanishad)* ❖ How to be a Yogi ❖ Towards Divinity ❖ Yoga for life ❖ The Hindu & its way of life ❖ Essence of the Gita ❖ Basic Principles of Yoga ❖ Essays on the Karm Yoga ❖ Lord Hanuman-Our Ideal ❖ Meditation Technique ❖ Science of the Absolute Knowledge ❖ The Nature of Sacrifice *(Commentary on Ishopanishad)* ❖ Tattva Samass ❖ World's Problems and Their Solution ❖ Peace Through Spiritual Discipline ❖ Hindu Millenium Celebrations In U.K.

दिव्यालोक मासिक पत्रिका

सद्विचारों के प्रचार और प्रसार की मासिक पत्रिका

सम्पर्क सूत्र

ब्रह्मर्षि आश्रम
विराट् नगर, पिंजौर (हरियाणा)
पिन–134102,
मो: 98120-20059

ब्रह्मर्षि योगाश्रम
28–बी, पंचशील गार्डन,
नवीन शाहदरा, दिल्ली–110032
मो: 98120-20059

ब्रह्मर्षि बावरा शिक्षा निकेतन
माधोपुरी, गऊशाला रोड, लुधियाना
फोन : 0161-2731141

ब्रह्मर्षि बावरा शिक्षा निकेतन
(अंग्रेजी मीडियम)
बेअन्तपुरा, चण्डीगढ़ रोड, लुधियाना
फोन : 0161-2226406

Metaphysical Science Research Institute
Sec.19-A, Chandigarh
Phone : 0172-2725390, 2540128

ब्रह्मर्षि बावरा शान्ति विद्यापीठ
दीनानगर, धाररोड, उधमपुर (जे०के०)
फोन : 01992-71080

Brahmrishi Mission School
Jarar, Devvan, Piplaage
Bhunter, Kullu (H.P.)
Ph. 01902-265518,266043

Brahmrishi Mission School
Hanumangarh Road,
Opp. New Water Works,
ABOHAR-152116
Ph. : 01634-229615

ब्रह्मर्षि प्राकृतिक चिकित्सालय योग आश्रम
पुरी फार्म्स, जोड़ियां, रादौर रोड,
यमुनानगर–135001 (हरियाणा)

ब्रह्मर्षि बावरा विद्या मन्दिर
चककिशुनदास, ज्ञानपुर, भदोही,
वाराणसी (उ०प्र०)

ब्रह्मर्षि योगाश्रम
न्यू बाईपास, ऋषिकेश रोड,
भूपतवाला, हरिद्वार (उ०प्र०)
फोन : 0133-461018

श्री गीता रामायण सेवा संघ
अशोक नगर, मोक्ष मार्ग,
उदयपुर (राजस्थान)
फोन : 0294-414140

Brahmrishi Misson
278, Heston Road, Heston
Middlesex TW5 ORT U.K.
Phone : 0208-571-3879

Brahmriahi Mission CANADA
Shri-Ram-Dham Hindu Temple
525 Bridge Street,
East Kitchener, Ontario
CANADA N2K3C5
Phone : (519) 579-1486

Brahmrishi Ashram
1246, North Mantua Street, Kent,
Ohio- 44240, U.S.A..
Phone : 330-678-3793

Brahmrishi Ashram
717, Loosduinseweg,
2571 AM-Denhaag, Nederland,
Ph.: 070-3620961

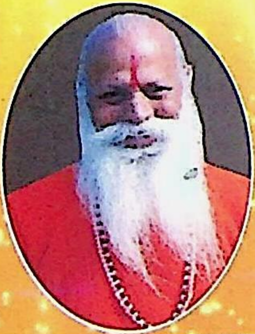

"जगत में कोई भी पद-पदार्थ एक रस, रूप में रहने वाले नहीं, सभी अनित्य तता परिवर्तनशील हैं, अतः शरीर, मन, बुद्धि से उत्पन्न हुए व्यक्ति, जाति तथा मानवधर्म को भी नित्य सनातन धर्म नहीं कहा जा सकता।

सनातन धर्म का आधार एक, नित्य, पूर्ण दिव्य रसमय सर्वव्यापी आत्मा है और उसका जो शाश्वत् सत्-चित्-आनन्द स्वरूप धर्म है, उसे ही नित्य सनातन धर्म कहते हैं।"

-विश्वात्मा बावरा

एकत्वमनुपश्यतः

ब्रह्मर्षि मिशन

दिव्यालोक प्रकाशन

ब्रह्मर्षि आश्रम, विराट् नगर, पिंजौर (हरियाणा)